भूमिका

नाना मासिक पत्रों में आज बीस वर्ष से भी अधिक काल तक मेरे जितने लेख निकले हैं, उनमें से अध्यात्म-विषयक कुछ लेखों का संग्रह इस पुस्तक में छापा गया है। ऐसे विषयों में जिनकी रुचि है, मैं आशा करता हूँ कि इन लेखों को पढ़कर उन्हें आनन्द मिलेगा।

पाठकों को एक आध स्थान पर एक आध अशुद्धि दृष्टिगोचर हो सकती है। मैं अतिवृद्ध हूँ, खेद है कि प्रूफ देखने के समय मेरी दृष्टि से वे छूट गयी हैं। इस त्रुटि के लिए मैं पाठकों से क्षमा माँगता हूँ।

शान्तिपुर (नदीया, बंगाल),
महाविषुव संक्रान्ति, सं० १९९८। } नलिनीमोहन सान्याल

विषय-सूची

उच्चविषयक लेखमाला

पुराण-साहित्य की उत्पत्ति

वैदिक युग के ऋषिगण इस विश्व में नाना प्राकृतिक शोभाओं को देखकर मोहित हो जाते थे और उनमें नैसर्गिक शक्तियों का अनुभव कर विस्मय से भर जाते थे। अपनी तीव्र कल्पना के बल से वे इन नैसर्गिक शक्तिओं में देवताओं की उपलब्धि कर उन देवताओं को समग्र ब्रह्माण्ड या उसके अंश विशेष का अधिष्ठाता समझते थे। वे उन देवताओं के निकट अन्न, पुत्र, धन, सौभाग्य इत्यादि सम्पदाएँ माँगते थे; और विपद् से रक्षा तथा शत्रुओं पर विजय की प्रार्थना करते थे। उनके मन में देवताओं के विषय में नये-नये भावों का उदय होता था, और वे इन भावों को सुन्दर भाषा में गूँथकर व्यक्त करते थे। जिन पवित्र वाक्यों के द्वारा वे देवताओं की आराधना या मनन करते थे, उन्हें मंत्र कहते हैं। इस मंत्र-समूह का नाम है वेद।

इन देवताओं में जो अग्नि के अधिदेवता थे, उनकी शक्ति को देखकर ऋषिगण अधिक मुग्ध हुए थे। वह सर्वत्र विद्यमान हैं—वह सूर्य में रह कर आलोक तथा उत्ताप वितरण करते हैं, अन्तरिक्ष में रहकर मेघ, वृष्टि तथा विजली उत्पन्न करते हैं और पृथ्वी पर रहकर जीवों की प्राणरक्षा करते हैं। अतएव

अग्नि की उपासना ही वैदिक ऋषियों के भीतर सब से पहिले प्रतिष्ठित हुई थी। प्रत्येक गृहस्थ के घर में सदा के लिए अग्नि प्रज्वलित रहती थी, और गृहस्थ प्रतिदिन प्रातःकाल तथा सायंकाल उसमें होम करता था। इस प्रकार से यज्ञ की उत्पत्ति हुई थी। पीछे यज्ञ को गौरव-युक्त तथा मनोहर बनाने के लिये आर्यों ने ऋषि-मुख से कवित्व-पूर्ण ऋक्मंत्र, गानोपयोगी साममंत्र और यज्ञोपयोगी यजुस्मंत्र क्रमशः प्राप्त किये थे।

ऋत्विक् सम्प्रदाय चार श्रेणियों में विभक्त था—अध्वर्यु, होता, उद्गाता और ब्रह्मा। अध्वर्युगण यजुस् मंत्रों के द्वारा, होतागण ऋक् मंत्रों के द्वारा, उद्गातागण सामगान के द्वारा यज्ञ सम्पन्न करते थे। ब्रह्मा इन सब के कार्यों का पर्यवेक्षण करते थे।

मंत्र तथा ब्राह्मण दो भागों में वेद विभक्त हैं, किन्तु ब्रह्मयज्ञ प्रकरण में इनके अतिरिक्त वेद के कुछ और भी भिन्न-भिन्न भागों का उल्लेख मिलता है, जैसे इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी। ये सब मंत्र तथा ब्राह्मण भागों के ही अन्तर्गत हैं।

वेद या ब्राह्मणों में "देवता और असुरगण युद्ध में निरत थे" ऐसे वाक्य मिलते हैं। इन वाक्यों को इतिहास कहते हैं। जहाँ "यह जगत् पहले नहीं था" ऐसे सृष्टि-प्रतिपादक वाक्य मिलते हैं वहाँ उन वाक्यों को पुराण के नाम से ग्रहण करना चाहिये। अग्नि-चयन प्रकरण में कुछ वाक्यों को कल्प नाम दिया गया है। अग्नि-चयन के समय जो गीत गाये जाते थे, उनका नाम है गाथा। जिन ऋक्-मंत्रों में मनुष्यों का वर्णन है, वे हैं, नाराशंसी।

ऐतरेय, तैत्तिरीय तथा कठादि उपनिषदों में हरिश्चन्द्र, नाचिकेता इत्यादि के उपाख्यान इतिहास हैं; और सृष्टि, स्थिति, प्रलयादि के विवरण पुराण हैं। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है

कि यज्ञ के समय जितने दर्शक यज्ञ-स्थान में एकत्रित होते थे, उनको पुराण का कुछ अंश सुनाया जाता था। यज्ञ के दशम दिन में कुछ पुराण सुनना उचित है। यह भी कहा गया है कि महाभूत के निःश्वास से वेद, इतिहास, पुराण, उपनिषदादि उत्पन्न हुए हैं। इन वैदिक प्रमाणों से जाना जाता है कि पुराण भी वेद के समान नित्य तथा अपौरुषेय है। शंकराचार्य ने भी ऐतरेय उपनिषद् के उपक्रम तथा बृहदारण्यक-भाष्य में ऐसा ही इङ्गित किया है।

इससे विदित होता है कि वैदिक युग में सृष्टि-प्रक्रिया-संयुक्त विवरण-मूलक पुराण प्रचलित थे। मत्स्य-पुराण में पुराण के पाँच लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं—

" सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥"

सृष्टि-लय के बाद फिर सृष्टि; प्राचीन ऋषि, प्रजापति तथा राजाओं का विवरण; वर्णनीय पुराण की कथा किस मनु के समय सङ्घटित हुई थी; और सूर्य, चन्द्र इत्यादि वंशों के राजाओं के चरित्र इन पांच विषयों को लेकर जो विवरण रचित हुआ है, वही पुराण है। सृष्टितत्त्व ही पुराण का मुख्य लक्षण है—शंकराचार्य ने ऐसा ही निर्देश किया है। पाँचों लक्षण सब पुराणों में दृष्टिगत नहीं होते। जिन पुराणों में पाँचों लक्षण नहीं पाये जाते, वे अङ्गहीन हैं और यथार्थ पुराण पदवाच्य नहीं हैं।

मुनि और ऋषियों ने पृथक् पृथक् समय में पुराण संहिताओं की रचना की थी। वेद के मंत्र भाग में स्थान-स्थान पर इतिहास तथा पुराण हैं, किन्तु पुराणों में जिस प्रकार असंख्य उपाख्यान विस्तार से वर्णित हुए हैं, वेदों में उतने अधिक आख्यान नहीं हैं और जो हैं भी, उनका उल्लेख अति संक्षिप्त रूप में है। मत्स्य-पुराण से ज्ञात होता है कि वेद से बीज संगृहीत होकर पहले एक

ही संहिता निर्मित हुई थी*। इस आदि संहिता के बाद तीन संहिताएं और बनी थीं। इन चार मूल संहिताओं के बाद १८ पुराण-ग्रन्थ रचे गये। इसी कारण सब पुराणों में सृष्टितत्व प्रायः एक ही प्रकार के हैं। केवल देवता, मन्वन्तर, वंश तथा वंशानुचरित भिन्न-भिन्न हैं।

वेद के अधिकांश ऋषि ही बहु-देव वादी थे। किन्तु उनमें से किसी-किसी ने देवताओं के एकत्व का अनुभव किया था। ब्रह्म के एकत्व की आलोचना उपनिषद् के ऋषियों ने की है। देवताओं के बहुत्व के आधार पर पुराणों की सृष्टि हुई है। वेद में मानव-चरित्र के उत्कर्ष तथा भक्ति सम्बन्धी उपदेश कम हैं—केवल स्थान स्थान पर आभासमात्र हैं। नीति तथा भक्ति-योग की शिक्षा देने के लिए ही वेद का पुराणांश वर्धित होकर परवर्ती पुराण-साहित्य में परिणत हुआ है।

हमारे देश का प्रचलित मत है कि वेद-व्यास ही १८ पुराणों के रचयिता हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में जितने इतिहास, आख्यान, उपाख्यान, कल्पगाथा वर्णित हैं और मुनि ऋषियों के मत जहाँ जैसे मिले हैं उनका संग्रह कर उन्हीं के आधार पर वेदव्यास ऋषि ने अपनी भाषा में केवल एक संहिता की रचना की थी। उनके लोम-हर्षण नामक सूत-जातीय एक शिष्य थे। महामुनि ने उन्हें अपनी पुराण-संहिता अर्पण की थी, और पुराण-विषयक शिक्षा दी थी। लोमहर्षण के सुमति, अग्निवर्चा, मित्रयु, शंशपायन, अकृतव्रण, सावर्णि नामक छः शिष्य थे। उनमें से अकृतव्रण, सावर्णि तथा शंशपायन ने लोमहर्षण के पास मूल संहिता की शिक्षा पाकर उसके आधार पर प्रत्येक ने एक-एक संहिता

" *पुराणमेकमेवासीत् तदा कल्पान्तरेऽनघम् "

धनायी और इन चार संहिताओं का सार भाग लेकर विष्णु-पुराण रचित हुआ है। फिर ब्रह्म-पुराण और अन्य पुराण रचे गये। पुराणों की भाषा तथा रचना-प्रणाली देखकर स्वर्गीय पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अनुमान किया था कि समस्त पुराण एक ही व्यक्ति की कृति नहीं हो सकते।

बौद्ध युग में बौद्धों की सब शक्ति ब्राह्मणों तथा ब्राह्मण्य धर्म के विरुद्ध में प्रयुक्त हुई थी। इस कारण ब्राह्मणों की प्रधानता का लोप हो गया था, और धार्मिक तथा सामाजिक विप्लव उपस्थित हुए थे। ब्राह्मणों के शास्त्र-ग्रन्थ नष्ट तथा लुप्तप्राय हो गये थे। गुप्त वंशीय सम्राटों के अधिकार-काल में ब्राह्मण्य धर्म का पुनरुत्थान हुआ था। किन्तु बौद्ध युग का प्रभाव गौण रूप में अनेक परिमाण में ब्राह्मणों पर पड़ा था। गुप्त सम्राटों के समय जो ब्राह्मण्य धर्म पुनः प्रतिष्ठित हुआ वह वैदिक धर्म के नाम से अभिहित होने योग्य न रहा। उस समय लुप्तप्राय शास्त्रादि के उद्धार की चेष्टा हुई थी। बौद्ध युग के ग्रन्थों में प्राकृत भाषा का व्यवहार अधिक होता था। गुप्त-काल में ग्रन्थादि संस्कृत भाषा में लिखे जाने लगे। इसी समय पुराण-ग्रन्थों के जितने अंश खोज-ढूँढ़ से हस्तगत हुए, उनके आधार पर पुराण-साहित्य फिर से लिखा गया। इसी कारण उसमें अनेक आधुनिक विषयों का प्रवेश है।

किन्तु केवल इस उक्ति से पुराणों की आधुनिकता प्रमाणित नहीं होती। मूल पुराणों का बीज वेदों से गृहीत हुआ है। अतएव पुराणों का मूल अति प्राचीन है।

अष्टादश पुराणों के नाम ये हैं—

१ ब्रह्म-पुराण, २ विष्णु-पुराण, ३ पद्म-पुराण, ४ वायु पुराण, ५ मत्स्य-पुराण, ६ अग्नि-पुराण, ७ ब्रह्माण्ड-पुराण, ८ स्कन्द-पुराण, ९ नारदीय पुराण, १० वराह-पुराण, ११ गरुड़-पुराण, १२ वामन-पुराण,

१३ कूर्म-पुराण, १४ श्रीमद्‌भागवत, १५ मार्कण्डेय-पुराण १६ भविष्य-पुराण, १७ लिङ्ग-पुराण, १८ ब्रह्म वैवर्त पुराण ।

—:०:—

आशावाद

(आलोचना)

लाला गुलाबराय एम्० ए० लिखित ' फिर निराशा क्यों ? '-नामक पुस्तक के तृतीय संस्करण की एक प्रति सम्मति के लिये मेरे पास भेज दी गई है। यह ग्रंथ लेखक के अगाध पांडित्य का परिचायक है। मुझ-जैसे अल्प-विद्य तथा अल्पधी व्यक्ति के लिये इसकी उचित समालोचना करनी दुरूह है। तथापि जब यह ग्रंथ-रत्न मेरे पास सम्मति के लिये भेज दिया गया है, तब इस पर अपनी शक्ति के अनुसार दो बातें न कहने से इसका निरादर किया गया, ऐसा संदेह हो सकता है। इस कारण मैं विवश होकर, किंतु सहर्ष, अपना अभिमत व्यक्त करने की धृष्टता करता हूँ।

चिंताशील मनुष्यों में दो संप्रदाय के लोग देखने में आते हैं—आशावादी और निराशावादी। भारतवासी प्रायः निराशावादी हैं। उनके शास्त्रों ने उन्हें निराशावादी बनाया है। अधिकांश हिंदुओं की यह धारणा है कि यह संसार अनित्य तथा दुःख-पूर्ण है। कर्म में आसक्ति के कारण मनुष्य को बारंबार जन्म-धारण करते हुए दुःख-भोग करना पड़ता है। हम इंद्रिय-सुख-भोग तथा वासना के दास बनकर कर्म के बंधन में फँस जाते हैं। इस दुःखमय संसार से तभी छुटकारा मिल सकता है, जब हमारी वासनाएँ और कर्म छूट जायँ। मुक्तिकामी मनुष्य विषयों में अनासक्त होकर कर्म छोड़ना चाहते हैं, जिससे मोक्ष मिले।

यह मनोवृत्ति स्वार्थ-पूर्ण है। हमें केवल अपना ही स्वार्थ नहीं देखना है। अपने मोक्ष की चिंता के साथ-साथ अन्यों के उद्धार के विषय में सचेष्ट होना हमारा कर्तव्य है। कर्म बुरा नहीं है, यदि वह स्वार्थशून्य हो। हम जगत् में शामिल हैं, विश्व-प्रवाह से अलग नहीं। हमें चाहिए कि हम उस प्रवाह के अनुकूल जायँ, न कि प्रतिकूल। व्यष्टि से ही समष्टि बनी है। व्यष्टि की सचलता पर समष्टि की सचलता निर्भर है। विना व्यष्टि की चेष्टा के समष्टि का हित असंभव है। हमारी शक्ति क्षुद्र है, तथापि हमसे जितना वन सके, 'दरियाए-वहदत' के प्रवाह में हमें सहायक होना चाहिए। शरीर के आश्रय में ही आत्मा की स्थिति है। उस शरीर के पोषण के लिये भौतिक वस्तुओं की आवश्यकता है। क्या हम जगत की सहायता लेंगे, पर उसकी कार्यावली में अपनी सहायता देने को अस्वीकृत होंगे? इस संसार में हमें ऐसे कर्मों में नियत रहना चाहिए, जिनसे विश्व का हित हो।

जगत् के कल्याण के लिये, देश के कल्याण के लिये, पड़ोसी के कल्याण के लिये अपने स्वार्थ का विसर्जन करके हमें काम में प्रवृत्त होना चाहिये। नैराश्य का लोप कर देना चाहिये। निराशा के कारणों को ढूँढ़कर उनका उच्छेद करना चाहिये। हमें आशावाद का अवलंबन करना चाहिए। इस जगत् में केवल दुःख-ही-दुःख नहीं है, सुख भी है, और सुख का परिमाण कम नहीं है। जैसे श्रम के बिना विश्राम का आस्वाद नहीं मिलता, जैसे अंधकार के विना प्रकाश का अनुभव संभव नहीं, वैसे ही दुःख के विना सुख की अनुभूति नहीं हो सकती। कृच्छ्रसाधन के द्वारा ही योगी परमात्मा का लाभ करने में समर्थ होते हैं। कठिनाइयों से ही हमारी शक्ति बढ़ती है, और कठिनाइयों का सामना करने में ही मनुष्य का महत्त्व है।

जगत् में विपरीत धर्मावलंबी वस्तुओं या विषयों की संख्या कम नहीं, जैसे आलोक-अंधकार, शीत-उष्ण, श्वेत-कृष्ण, कोमल-कर्कश, सुरूप-कुरूप, सुगंध-दुर्गंध, सुस्वाद-विस्वाद, जीवन-मरण, शत्रु-मित्र, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, हित-अहित, सफलता-विफलता, शांति-अशांति इत्यादि। गो, अश्व, कुक्कुर इत्यादि मनुष्य के उपकारी पशु हैं, तो व्याघ्र, सर्प नक्र इत्यादि हिंस्र प्राणी भी हैं। जितनी वस्तुएँ हैं—चाहे समधर्मी हों, चाहे विरुद्धधर्मी—सब विश्व-राज्य के अंतर्गत हैं। भेद के ज्ञान के विना एकता का ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। जैसे मनुष्य, वैसे ही अन्यान्य सब जीव, वस्तु तथा विषय विश्व के अंश हैं। समग्र के साथ प्रत्येक वस्तु का नित्य-संबंध है। विश्व के कार्य के निर्वाह के लिये प्रत्येक वस्तु अपरिहार्य है। जगत् की कार्य-शृंखला को अप्रतिहत रखने के लिये—उसकी एकतानता को जारी रखने के निमित्त—जो अनुभूतियाँ हमें नापसंद हैं, उन्हें हमें सह जाना होगा। जगत् में मनुष्य ही सबसे विरुद्धाचारी और अत्याचारी है। वह प्रकृति के साथ संग्राम करके जगत् में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है। मनुष्य ने व्याघ्र, सर्प वृश्चिक, मशक, उड्डीश इत्यादि को हिंस्र नाम से अंकित किया है, किंतु चित्रण का सुयोग यदि उन्हें मिलता, तो मनुष्य अति हेय रूप में चित्रित होता। अतएव जगत् में मनुष्य के असंतोष का कोई कारण नहीं, और उसे निराशावादी नहीं होना चाहिये।

विद्वान् लेखक ने इस आशय की और इनके अतिरिक्त कितनी ही अमूल्य बातें कहकर सुप्त भारतवासियों को उत्साहित तथा उद्‌बुद्ध करने का प्रयत्न किया है। जिन ज्ञान तथा महत्त्व की बातों से ग्रंथ भरा हुआ है, उनका परिचय कुछ पहले दिया गया है, और कुछ आगे दिया जाता है।

मनुष्य ही असीम जगत् की छोटी-सी प्रतिमूर्ति है। मनुष्य

के द्वारा ही जगत् में ईश्वरीय ज्ञान प्रचारित होता है। ज्ञान की सीमा दिन-ब-दिन बढ़ती जाती है। अपूर्ण मनुष्य में पूर्ण की अनुभूति रहने के कारण उसे पूर्ण होने की आशा है। व्यक्तित्व रखते हुए भी हम अपने को पूर्ण से संबद्ध देख सकते हैं। यह विचित्र संसार प्रत्यक्ष मात्र में ही सीमित नहीं है—इसके आगे भी कुछ है। [किंतु रहस्यवादी लोग कहते हैं कि प्रत्यक्ष जगत् असत्य है। सत्य जगत् इसके परे है।]

सौंदर्योपासना में ही मनुष्य और परिदृश्यमान जगत् की एकता का सच्चा प्रमाण मिलता है। [इस विषय में आशावादी और रहस्यवादी में एकता है।] सुंदर वस्तु तभी तक सुंदर प्रतीत होती है जब तक हम उससे किसी प्रकार का लाभ उठाने की चेष्टा नहीं करते। सौंदर्योपासना के द्वारा जड़ वस्तु चेतन का रूपांतर दिखाई देने लगती है। सौंदर्य का अस्तित्व कुरूपता के ज्ञान के ऊपर निर्भर है। जगत् में दोनों ही की स्थिति है, और दोनों ही एक अविच्छेद संबंध में बँधे हुए हैं। रूप-हीन पदार्थ निरादर का विषय नहीं—वह भी उसी सुविशाल सत्तार्णव का एक कण है, जिसका सुंदर पदार्थ है। जब हम सारे संसार में अपने ही को देखेंगे, तब हमें कुरूप भी रूपवान् प्रतीत होगा।

व्यक्तित्व के तिरस्कार से ही भेद-बुद्धि का अवसान होता है, और हममें प्रेम का बीज अंकुरित होता है। हम इस क्षुद्र शरीर में ही संकुचित नहीं—हमारा आदर्श हमें परिमितता से बाहर ले जाता है। केंद्रभूत आत्मा के वृत्त का जितना ही विस्तार होगा, उतनी ही आनंदामृत की वर्षा होगी, और धरती पर स्वर्ग उतर आवेगा। बिना सेवा के प्रेम प्रत्यक्ष और स्पष्ट नहीं होता। विश्व-प्रेम तथा विश्व-सेवा के द्वारा ही व्यक्तित्व का बंधन छूट सकता है।

अपूर्ण है पूर्ण का ही रूपांतर। अपूर्ण अपूर्ण नहीं, वरन् पूर्ण का ही चलता हुआ रूप है। अपूर्णता में उत्तरोत्तर वर्द्धमान होने की संभावना रहती है। हमारी अपूर्णता निश्चलता-दोष-शून्य है।

कौन ऐसा है जो पापी नहीं है? तो कौन किससे घृणा करने का अधिकारी है? पाप करने की संभावना रहते हुए भी पुण्य करना मनुष्य की श्रेष्ठता का व्यंजक है। जो लोग अपने को पापी समझते हैं, उन्हीं से समाज के सुधार की आशा है। न गिरनेवाले से गिर कर उठनेवाला ही श्रेष्ठ है। यदि हम गिर कर उठेंगे, सँभलेंगे, सुधरेंगे, तो हमारा सुधार चिरस्थायी होगा।

भूल केवल मनुष्य ही कर सकता है, मशीन या जानवर नहीं। भूल के ही द्वारा अनिश्चित ज्ञान निश्चयता प्राप्त करता है, और मानव-जाति की नई-नई संभावनाओं की सूचना मिलती है। भूल ही असली ज्ञान का प्रथम सोपान है—भूल अल्प ज्ञान है। हमारी भूल इतने ही में होती है कि हम थोड़े से ज्ञान के आधार पर ही काम कर बैठते हैं। क्रिया की कुंजी से ही ज्ञान के दुर्भेद्य रहस्य का ताला खुल जाता है। जो लोग भूल करके हानि उठाते हैं, वे मनुष्य-समाज के लिये अपने हित का वलिदान कर पर-हित-साधन करते हैं। भूल करने वाले का जीवन व्यर्थ नहीं जाता। भूल से जो संसार का लाभ होता है, उसी की ओर ध्यान दो—भूल करने वाले व्यक्ति की हानि पर नहीं। भूल करने पर ही हमें मालूम होता है कि यथार्थ किस वात की खोज थी। भूल करने पर ही ज्ञात हो जाता है कि हमारी आवश्यकता इतनी बढ़ी हुई थी कि उसकी जान-कारी के लिये हमें भूल करनी पड़ी। यही उन्नति का मुख्य साधन है।

कर्म का छोड़ना ही बंधन में पड़ना है। कर्म के त्याग से

ही पानी के ऊपर बहते हुए क्रिया-शून्य तृण की भाँति हमारी दशा हो जाती है। जो कर्म संसार में अनेकता का भाव पैदा करते हैं, वे संसार में सामंजस्य स्थापित करने में अक्षम होते हैं। वे व्यष्टि को समष्टि से अलग कर उसे समष्टि-जन्य यथेष्ट बल-संचय से वंचित कर देते हैं। सागर से पृथक् होकर जल-कण गति-हीन हो जाता है—यही परम बंधन है। जिन कर्मों का मूल केवल स्वार्थ-साधन में संकुचित नहीं हो सकता, जो कर्म सत्ता-सागर के जल-कणों में सामंजस्य स्थापित कर संसार की उन्नति में योग देते हैं, वे ही मोक्षप्रद हैं। समष्टि ही व्यष्टि की सच्ची आत्मा है। कर्म ही व्यष्टि को समष्टि से मिलाता है। स्वार्थ ही बंधन है, और निःस्वार्थता मोक्ष। सच्चा स्वार्थ निःस्वार्थता में है।

यदि हम अपने ईश्वर को व्यापक रूप में देखना चाहते हों, तो ईश्वर की संतान से विरोध नहीं कर सकते। यदि दूसरे अज्ञानांधकार में हैं, तो हमें चाहिए कि उनके सामने ज्ञान का दीपक धरें, न कि अपने अज्ञान-तिमिर से उनका तिमिर गाढ़तर करें।

आशावाद अकर्मण्यता नहीं है। असंतोष है क्रिया का प्रेरक, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किंतु प्रेरणा के साथ आशा और विश्वास की आवश्यकता है। यदि हमें मनुष्य जाति की उच्च संभावनाओं में विश्वास नहीं, तो सारी शिक्षा निष्फल हो जाती है। [रहस्यवादी लोगों ने धर्म को ईश्वर-प्राप्ति के साधनों में अन्यतम साधन बताया है।] धर्म का मूल है विश्वास। जो धर्म में आवश्यक है, वह कार्य-क्षेत्र में भी अपेक्षित है। मनुष्यजाति की उच्च संभावनाओं में विश्वास रखते हुए हम अपने कार्य को उत्साह-पूर्वक कर सकते हैं। प्रेम के आगे कोई प्रतिबंध नहीं ठहरता।

परंतु आशावादियों का स्वप्निल संसार चाहे जितना दिव्य हो, वास्तव संसार नितांत कठोर है। उसमें पद-पद पर आपत्ति तथा विफलता का सामना करना पड़ता है। तथापि आशावाद निरी कल्पना नहीं। आशावाद के पोषण से संसार का रूप सत्य ही बदल जाता है। आशावादी के लिये हार ही जीत बन जाती है—उसे विफलता में ही सफलता दिखाई पड़ने लगती है। हार में ही मानव-शक्ति का परिचय मिलता है। यदि हमारा आदर्श ऊँचा है, तो विफलता केवल यही बताती है कि अभी हममें और हमारे वातावरण में पूर्ण साम्य स्थापित नहीं हुआ। यत्न न करना, आलस्य में पड़े रहना, अपनी न्यूनता का दोष दैव पर मढ़ना अथवा लक्ष्य ही नीचा रखना निंदनीय बातें हैं। यत्न करने पर यदि सिद्धि न हो, तो हमारा दोष नहीं। विफलता हमारी अयोग्यता को प्रकाश में लाकर हमें साफल्योन्मुख बनाती है। विफलता नवीन मार्गों की खोज में हमारी सहायक होती है। विफलता के द्वारा धैर्य की परीक्षा होती है। किंतु विफल होकर निरुद्योग बैठ रहना निंदनीय है। पराजय और विफलता हमारी भावी उन्नति की साधक शक्तियाँ हैं।

जिसके हृदय में प्रेम है, उसे सब कुछ मधुर तथा प्रिय मालूम होता है। जिस हृदय में प्रेमवसंत का उदय हुआ है, उसमें सत्क्रियाओं का स्रोत निशि-वासर प्रवाहित है। उसके लिये सारा संसार आशा के मधुर फलों से सुसज्जित दिखाई पड़ने लगता है। उसके मन को चिर-वसंत ने अधिकृत किया है। किंतु मधुमय वसंत के शुभागमन के पूर्व ही उसके हृदयोद्यान में वैमनस्य, आलस्य, निराशा, दुर्बलता, क्रोध, लोभ, भ्रांति, दंभ, द्रोह, द्वेष, मात्सर्य, अहंकार आदि अवगुणों के पतझड़ की आवश्यकता है। जब भीतर नई-नई पत्तियों का ज़ोर होने लगता है, तब सूखी पत्तियाँ आप-ही-आप गिर जाती हैं।

पतझड़ ही वसंतागम की सुहावनी सूचना है। हमें केवल उत्साह और आत्मविश्वास की आवश्यकता है। यदि सब कोई आत्मत्याग करके उत्साह के साथ काम करने लगें तो वसंत स्थायी रूप में इस संसार में विराजने लगेगा।

—:o:—

लुका-छिपी

" हे कृष्ण, सुनने में आया है कि तुम खेल से सभों को मुग्ध करते हो, और उन्हें अपने खेल के साथी बना लेते हो। और भी सुना जाता है कि किसी समय पृथ्वी के किसी स्थान पर तुमने जन्म लिया था—तुमने अपना मोहनरूप दिखाकर, मन-लुभाने वाले नाना खेल खेलकर वहाँ के लोगों को कुछ समय के लिए अविराम आनन्द-स्रोत में वहा रक्खा था। तुमने तो उसके बाद दूसरे किसी स्थान में अपना नयन-रञ्जन रूप नहीं दिखाया, खेल भी नहीं खेला। लोग कहते हैं कि प्रेम तथा आनन्द ही तुम्हारा स्वरूप है—तुम्हारे पास देश, काल, पात्र का विचार नहीं—सभी को तुम समान प्यार करते हो। तब क्यों तुम्हारा ऐसा अविचार है? तुमने एक ही समय के प्रति, एक ही स्थान के प्रति इतना पक्षपात क्यों दिखाया है? दूसरे समयों को, दूसरे देशों को उस आनन्द से क्यों वञ्चित किया है?"

"प्रिय सखे, मैं तो सभी समय, सभी जगह, तुम्हारे तथा और सबों के भीतर तथा चारों ओर खेलता रहता हूँ। चेतन-अचेतन जो कुछ हैं, सभी तो हमेशा मेरे खेल के साथी हैं। मैं सब समय असंख्य स्थानों में असंख्य प्रकार की लीलायें करते हुए सबको अपनी ओर खींचने की चेष्टा करता हूँ। मैं तुम्हारे साथ भी खेलता हूँ। तुम मुझे देखते हुए भी नहीं देख सकते—जानते हुए भी नहीं जान सकते। तुम्हारी आँखों पर पट्टी बँधी हुई है—

मैं बग़ल से निकल जाता हूँ, तुम मुझे पकड़ नहीं सकते। पर भाई, साथ ही साथ मैं अपना प्रमाण रख जाता हूँ।"

"हे सुन्दर, तुम्हारी मधुर बातें सुनकर आनन्द से मेरी छाती भरी जा रही है—मेरे उदास प्राणों में आशा का सञ्चार हो रहा है। किन्तु तुम्हारी बातें स्पष्ट नहीं—पूरी तरह समझ में नहीं आतीं—कुछ रहस्यमय मालूम हो रही हैं। हे प्रियतम, मेरे भीतर तथा बाहर अपने खेल की जो बात कह रहे हो उसे ज़रा साफ़ साफ़ कहोगे?"

'अब, भाई, खेलों में 'लुका-छिपी' ही मुझे सबसे अच्छी लगती है। 'लुका-छिपी' का खेल बहुत दिनों से खेलते-खेलते वह मेरा बहुत प्यारा हो गया है, कोई मुझे पकड़ नहीं सकता। मैं कितनी कितनी और किन किन जगहों में छिपता हूँ, तुम इसका अन्दाज़ ही नहीं कर सकते।

"मैं किसी किसी समय चाँद में जाकर छिपता हूँ। उस पूर्ण शशधर को तथा ज्योत्स्ना-मण्डित धरातल को देखकर क्या तुम्हें प्रतीति नहीं होती कि मैं उनमें हूँ?

"अँधेरी रातों में जब तुम आकाश की ओर मुँह उठाकर नाना आकार में सज्जित असंख्य चमकते हुए तारों का विन्यास देख आनन्द में निमज्जित रहते हो तब क्या तुम्हें मालूम नहीं होता कि मैं उनमें हूँ?

"अति प्रत्यूष में उठकर प्रकृति देवी सिन्दूर घोल कर अपने घर की पूर्व की दीवार को लीप देती हैं। मैं उसकी आड़ में जाकर छिपता हूँ, यह तुम नहीं जानते होगे।

"जब आकाश घने काले मेघ से ढँक जाता है, तब उसे देख कर क्या तुम अनुमान नहीं कर सकते कि मैं उसके भीतर हूँ। पहचान के लिए मैं अपनी सुनहरी रङ्ग की पिछौरी बीच बीच

में हिला देता हूँ। यह न जानते हुए तुम ख़याल करते हो कि वह बिजली है।

"एक समय जब तुम दार्जिलिंग में थे, उत्तर-गगन में काञ्चन-जङ्घा की विराट् धवल मूर्ति के ऊपर बाल सूर्य का किरणपात देखकर तुम मुग्ध तथा स्तम्भित हो गये थे। उस समय मैं वहाँ जाकर छिपा था। क्या यह तुम्हारे जानने में आया था?

"और एक बार की बात कहता हूँ। पुरी में जाकर एक दिन तीसरे पहर तुम बेला-भूमि पर जा बैठे थे। अनन्त नील वारिधि में लहरों पर लहरें देखते हुए तुम ऐसे आत्म-विस्मृत हो गये थे कि रात हो गई थी, तो भी तुम अपनी आँखों को फेरने को समर्थ न हुए थे। क्या तुम जान सके थे कि उस शोभा के भीतर मैं था?

"कल सन्ध्या के पहले पूर्व-आकाश में जो विचित्रवर्ण अर्ध-गोलाकार इन्द्रधनुष उठा था उसके भीतर मैं था, यह तो तुम समझ न सके थे। तुम्हें धोखे में डालने के लिए ही तो मैं नाना स्थानों में लुकता हूँ।

"मैं और भी कितनी जगहों में छिपता हूँ, यह तुम नहीं जानते। यह जो सुन्दर बड़े बड़े गुलाब तुम्हारे सामने खिले हैं, जिनके सौरभ से तुम्हारे प्राण मतवाले हो जाते हैं, उनके भीतर मैं छिपा रहता हूँ?

"हरिणों की अलसाई हुई सी आँखों में और पल्लवित शृङ्गों में मैं हूँ। गजेन्द्र के भीतर रहकर मैं उसकी सुन्दर मन्थरगति उत्पन्न करता हूँ। जब प्रबल वायु-प्रवाह से श्यामल शस्य-क्षेत्र का पृष्ठ लहराता है तब मैं वहाँ हूँ। वसन्त-समागम से जब वृक्ष नये नये हरे पत्तों से ढँक जाते हैं, और पलास तथा अशोक के फूलों से वन उज्ज्वल हो जाता है और विटपिस्थ विहङ्गकुल मधुर

तानें से दिगन्त को मुखरित कर देते हैं तब जानना कि मैं वहाँ हूँ।

"किसी दिन गरम हवा से तुम्हारी देह झुलसी जा रही थी। यह देखकर मुझसे रहा नहीं गया। मैंने तुम्हें मृदु मन्द सुशीतल समीरण स्पर्श कराके तुम्हारा शरीर शीतल कर दिया। क्या इससे भी तुमने अनुभव न किया था कि मैं आया था? मेरे साथ खेलने में तुम हरबार ही ठगे जाते हो। तुम मुझे पहचान नहीं सकते।

"जहाँ लतायें अपनी मृदु आवेष्टनियों के द्वारा बड़े बड़े वृक्षों को घेरकर मनोहर शीतल निभृत निकुंज निर्माण करती हैं, वहाँ जाकर मैं छिपता हूँ। जहाँ पर्वत गात्र पर कलध्वनि करता हुआ झरना बह जाता है, वहाँ मैं छिपता हूँ। जहाँ काला मेघ देखकर नाना वर्णोज्ज्वल पुच्छ फैलाता हुआ मयूर नाचने लगता है, उस नृत्य के भीतर मैं हूँ। मैं जहाँ जहाँ जाकर छिपता हूँ, वहाँ वहाँ से इशारा करता हूँ। तुम उन्हें न समझ कर खेल में हार जाते हो।

"जब तुम्हारा कोई भारी नुक़सान हो गया हो, अथवा जब तुम किसी बड़े उद्यम में असफल हो गये हो, अथवा तुम्हारे किसी प्रिय आत्मीय का वियोग हो गया हो—इस प्रकार के किसी सांसारिक निष्पेषण से बिलकुल मुरझा जाने के कारण जब तुम हमारे खेल की बात एक-दम भूल गये हो, तब तुम्हारी पत्नी आकर तुम्हारे शिशु पुत्र को तुम्हारी गोद पर रख गई। निर्भरशील सरल स्नेह का पुतला तुम्हारी गोद पर लेटकर तुम्हारे मुख की ओर ताकता हुआ चारों दाँत निकाल कर हँसने लगा, और हाथ-गोड़ पटकने लगा। उस समय तुम्हारे शिशु के आकार में पहुँचकर मैं तुम्हें हमारे खेल की बात याद दिलाने को आया था। इतनी मर्मपीड़ा के भीतर भी तुम्हारे मुँह पर

मुसकान आई थी, और हृदय का अनेक भार हट गया था। मैंने ही तुम्हें आशा से उत्साहित किया था। किन्तु तुमने मेरे संकेत को नहीं समझा था—तुम मुझे देख न सके थे। मैं मुसकराता हुआ बग़ल से निकल गया था, तुम जान न सके थे।

" एक दिन तीसरे पहर टहलते टहलते तुमने देखा कि दिवा अवसानप्राय है। एक कुली-रमणी दिन भर के परिश्रम के बाद अपनी श्रान्तदेह को घसीटती हुई निज कुटीर की ओर जा रही थी—उसके सिर पर एक बोझ था और पीठ पर छाती के साथ कसके बँधी हुई एक पोटली थी। जब उस पोटली की ओर उसका ध्यान दौड़ता था, तब इतनी शारीरिक थकावट रहते हुए भी वह गुनगुनाने लगती। पोटली में क्या था? जो कुछ था, वह उसका नयन-मणि था, सर्वस्व था, उसके आनन्द का उत्स था, जिसको लेकर उसने अपने सारे दिन के परिश्रम को तुच्छ समझा था, जिसके स्पर्श से उसके सर्व शरीर में तडित् प्रवाहित होती थी। इस दृश्य को देखकर क्या तुम्हारे शरीर में भी तडित् का सञ्चार नहीं हुआ था? इस जाज्वल्य-मान मातृस्नेह के भीतर मैं था। क्या तुम यह नहीं समझे थे? मेरा कोई दोष नहीं। मैं तुम्हें अपने अनादि, अनन्त 'लुका-छिपी' के खेल की बात का स्मरण कराके चुपके चुपके हँसकर खिसक गया था।

" मैं जब तुम्हारे पास आता हूँ, तुम ताकते रह जाते हो—अवाक् होकर सोचने लगते हो—यह क्या मामला है? प्यारे, मैं तुम्हें विषय-चिन्ता से निवृत्त करने के अभिप्राय से अपने चिरन्तन खेल का एक क्षीण आभास देता हूँ। इससे अधिक तो कुछ किया नहीं जा सकता। यदि तुम मुझे स्पष्ट देखकर पकड़ लो तो लुका-छिपी के खेल का सब मज़ा किरकिरा हो जायगा। सखे,

मैंने तुमसे बहुत-सी बातें कह डाली हैं, अधिक कहने से पकड़ा जाऊँगा। तब खेल में कुछ लज्ज़त न रहेगी। मैं जितना पोशीदा रहूँगा, उतना ही खेल का माधुर्य बढ़ेगा। मैं तुम्हारे पास रहते हुए भी पकड़ा जाना नहीं चाहता।"

"हे प्यारों से भी प्यारे, तुम्हारी बातों से अब मुझे मालूम होता है कि तुमने अनेक बार अपने खेल की याद दिलाई है और मेरे मन में चिन्ता जगा दी है। किन्तु मैं तुम्हें हमेशा भूल कर पथभ्रष्ट हो गया हूँ। हे हृदयेश, मुझे बता दो कि मैं तुम्हें किस प्रकार खोजूँ, जिससे खेल में मेरा भ्रम न हो?"

"प्रिय सखे, मैं तुम्हारे चारों ओर सदा खेला करता हूँ। अतएव सभी स्थानों में तुम्हें मेरा पता मिलेगा। लोभ तथा स्वार्थपरता ही अज्ञान, अत्याचार, प्रवञ्चना तथा दुःख-भोग के मूल हैं। जानना कि हमारे खेल को भूल जाना ही इस अधःपतन का कारण है। जहाँ जहाँ लोगों को इस प्रकार गिरे हुए पाओगे, वहीं वहीं उन्हें हमारे खेल की बात स्मरण करा कर जगाना होगा। जो लोग विपथ पर गये हैं उन्हें हमारे खेल में खींच लाना होगा। यह करते करते तुम हमारे बहुत निकट आ पहुँचोगे, और तुम्हारे-मेरे बीच जो पर्दा पड़ गया है वह हट जायगा। तब तुम्हारे तथा जगत् के साथ मेरे चिरदिन के खेलों के जितने दृश्य सामने आ जायँगे—प्रकाश्य रूप से खेल चलता रहेगा—आँख बाँधनी न पड़ेगी।"

"हे प्रियतम, लोग कहते हैं कि तुम्हें पाने के लिये अनेक धर्मग्रन्थ पढ़ने चाहिए, एकान्त में रहना चाहिए, साधु-संग करना चाहिए, तुम्हारा ध्यान करना चाहिए, भजन करना चाहिए, माला-जप करना चाहिए, तिलक करना चाहिए, और और कितनी ही बातें करनी चाहिए। हे प्राण-प्रिय, तुम्हारे खेल में शामिल होने के लिए क्या ये सब काम अवश्य कर्तव्य हैं?"

" सखे, पहले-पहल इनमें से कुछ साधनों का प्रयोजन हो सकता है, परन्तु जो मेरी नित्यलीला देखना चाहते हैं उन्हें आडम्बर आवश्यक नहीं। सदाचार का, एकाग्रचित्त होने का तथा मेरे नाम स्मरण का अभ्यास रखना, किन्तु निरन्तर मुझे खोजते रहना। मुझे खोज निकालना ही असली काम है। जो सब जीव मेरे खेल के नित्य सहचर हैं उन्हीं को अपने साथी करना। आँख बाँधकर खेलने से ही आनन्द अधिक मिलेगा। मुझे अपने चारों ओर—प्रकृति के सर्वत्र पाओगे। मैं एक ही समय नाना स्थानों में छिपा रहता हूँ।

"भीति-विह्वल, स्फूर्तिहीन, हताश, रोगग्रस्त, क्षुधित, यातना-पीड़ित कोटि कोटि प्राणियों के भीतर खेलना मुझे अच्छा लगता है। जो उन्हें प्यार करते हैं, उनका दुःखमोचन करते हैं, उन्हें उत्साहित करते हैं, खेल में खींच लाते हैं, वे मेरे बहुत प्रिय हैं। वे मेरे साथ अनन्तकाल तक खेलेंगे। धनी, वित्तसञ्चयी, विद्याभिमानी, उच्च कुल-सम्भूत लोग मेरा खेल भूल गये हैं। कण्टकाकीर्ण पथ से उनका उद्धार कर मेरे खेल में उन्हें लौटा लाना होगा। मैं जानता हूँ कि उनके मन से हमारे चिरदिन के खेल की बात एक-दम मिट नहीं गई है। स्नेह के साथ, निर्बन्ध के साथ, उन्हें खेल में लौटा लाना होगा।

"बन्धु, बहुत बातें हो गईं, अधिक का प्रयोजन नहीं। आओ, हम फिर खेलना शुरू करें। हम निरन्तर खेलेंगे—तब तुम मुझे पक्षपाती न कह सकोगे।"*

—:o:—

* 'कल्याण-कल्पतरु' के एक अँगरेज़ी लेख के आधार पर।

रामानुज (१)

वैष्णवों के चार संप्रदाय हैं—(१) श्री-संप्रदाय, (२) माध्वी-संप्रदाय, (३) सनक-संप्रदाय और (४) रुद्र-संप्रदाय * ।

(१) श्री-संप्रदाय के नेताओं में रामानुज का नाम सब से प्रसिद्ध है। इनका जन्म ९३८ शकाब्द (१०१७ ई०, अर्थात् १०७४ संवत्) के चैत्र में, मद्रास के निकट, भूतपुर (पेरंबुदुरम्) में, हुआ था। इनके पिता का नाम केशव याज्ञिक था और माता का नाम कांतिमती। केशव याज्ञिक की पत्नी श्रीशैलपूर्ण-नामक एक वृद्ध संन्यासी की भगिनी थीं। आठवें वर्ष में रामानुज का उपनयन हुआ, और केशव याज्ञिक स्वयं ही पुत्र को शिक्षा देने लगे। बालक की तीक्ष्ण बुद्धि तथा प्रतिभा का परिचय पाकर लोग मुग्ध हो जाते थे। सोलहवें वर्ष में रक्षांबा नाम की एक ब्राह्मण-कन्या के साथ रामानुज का विवाह हुआ। इसके कुछ समय बाद केशव याज्ञिक का देहांत हुआ।

उन दिनों द्राविड़-प्रदेश की राजधानी कांची नगरी विद्या तथा धर्म-चर्चा के लिये दक्षिणापथ में प्रसिद्ध थी। यादव-प्रकाश स्वामी नाम के एक वेदांती उस समय कांची-नगर के सुधी-समाज में विख्यात थे। रामानुज अपने परिवार के साथ कांची-नगर में आकर उनके पास अध्ययन करने लगे। रामानुज की प्रतिभा की ख्याति समग्र दक्षिणापथ में फैल गई। यादवप्रकाश स्वामी शंकराचार्य के मत के अद्वैतवादी वेदांती थे। परंतु रामानुज के हृदय का झुकाव वैष्णव-मत की ओर था। अतएव वह स्वामी जी की अध्यापना से संतुष्ट न हो सके। दोनों में विरोध उपस्थित हुआ। अंत में रामानुज ने यादवप्रकाश स्वामी

* रायबहादुर डाक्टर दीनेशचंद्र सेन।

का शिष्यत्व छोड़ दिया, और अपने घर में बैठकर अध्ययन करने लगे। अब से वह आलवारों के प्रबंधों का बहुत ध्यान से अध्ययन करने लगे।

इस समय दाक्षिणात्य में दो श्रेणियों के वैष्णव-शिक्षक थे—आलवार और आचार्य। आलवार लोग भक्ति-मार्ग के उपासक थे, और अपने उपास्य देवता विष्णु या नारायण की स्तुति के लिये उन्होंने तामिल-भाषा में एक प्रकार के भजनों की, जिनका नाम प्रबंध था, रचना की थी। ये प्रबंध बहुत पवित्र गिने जाते और वैष्णव-वेद कहे जाते थे। उत्तर-भारत में जिस समय ब्राह्मण्य धर्म का पुनरुत्थान हुआ था, संभवतः दक्षिणापथ में आलवारों का अभ्युदय उसी समय हुआ था *।

आचार्य-श्रेणी के वैष्णवों का काम था भिन्न-मतावलंबियों के साथ शास्त्रार्थ तथा विचार करके अपने धर्म-मत का समर्थन करना। इस श्रेणी के आदि-आचार्य थे नाथमुनि। श्रीरंगम् में इनकी गद्दी थी। यामुनाचार्य इनकी गद्दी के उत्तराधिकारी हुए थे। यह उस समय के वैष्णव-संप्रदाय के प्रधान अधिनायक थे। श्रीरंगम् में यामुनाचार्य ने रामानुज की बड़ी प्रशंसा सुनी थी। उन्होंने सोचा, रामानुज-जैसे तीक्ष्णबुद्धि, सदाचारी युवक यदि वैष्णव-मत ग्रहण करें, तो वैष्णव-धर्म के मधुर भाव का चारों ओर प्रचार हो जायगा। वही जीवात्मा के साथ परमात्मा का संबंध भली भाँति साधारण को समझा सकेंगे। यह सोचकर यामुनाचार्य उनको अपने मत में लाने के लिये व्यग्र हुए।

श्रीरंगम् में यामुनाचार्य के बहुत शिष्य थे। उनमें एक का नाम था पूर्णाचार्य। वह जैसे सुपंडित थे, वैसे ही भगवद्भक्त भी। यामुनाचार्य बहुत वृद्ध और रोगग्रस्त हो गए थे। अपनी मृत्यु के पश्चात् वैष्णव-मत का परिचालक रामानुज के सिवा दूसरा

---

* Sir R. G. Bhandarkar's Vaisnhavism.

कोई उन्हें नहीं सूझता था। उन्होंने एक स्तोत्र बनाया, और पूर्णाचार्य के हाथ उसे भेजकर रामानुज को कांचीपुर से श्रीरंगम् में बुलाया। रामानुज ने यामुनाचार्य का नाम पहले ही सुना था, और उनको अपने गुरु-पद में अभिषिक्त करने की वासना मन-ही-मन की थी। अब यह स्तोत्र पढ़कर उनकी वह लालसा जग उठी। पूर्णाचार्य से यामुनाचार्य की पीड़ा का समाचार सुनकर उस भक्तप्रवर महात्मा को देखने के लिये रामानुज ने उसी दिन पूर्णाचार्य के साथ श्रीरंगम् की ओर यात्रा की।

कुछ दिन के बाद जब वह कावेरी-नदी के तट पर पहुँचे, तब उन्होंने देखा, यामुनाचार्य की मृत देह समाधि के लिये उस नदी के किनारे पर लाई गई है। इस दृश्य को देखकर रामानुज और पूर्णाचार्य बड़े शोक में अभिभूत हुए। मृत्यु के पहले यामुनाचार्य अपने शिष्यों के पास रामानुज के लिये आदेश रख गए थे कि वह बादरायण के ब्रह्म-सूत्र के एक भाष्य की रचना करें, जिससे वैष्णव-मत का समर्थन हो।

भक्ति और प्रेम का मत ही वैष्णव-मत है। वैष्णव-मत के नेताओं ने ऐसे ग्रंथ की आवश्यकता का अनुभव किया। क्योंकि उन्होंने देखा, ऐसे ग्रंथ के बिना, उपनिषदों के आधार पर प्रतिष्ठित शंकराचार्य की ब्रह्म-सूत्र की व्याख्या के विरुद्ध प्रेम और भक्ति के मत का प्रचार होना असंभव है। शंकराचार्य ने अष्टम शताब्दी (ईसवी) में अद्वैतवाद का प्रचार किया था। उनका मत यह है कि सब प्रकार के भेद से रहित ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म ही एक-मात्र सत्य है। उसको छोड़कर जो कुछ देखा या पाया जाता है, सब मिथ्या है। उन्होंने श्रुतियों के बहुत-से प्रमाण उद्धृत किए हैं। उनमें से कुछ नीचे दिए जाते हैं—

"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।"

(छांदोग्य उ० । ६ । २ । १)

हे सौम्य, पहले एक-मात्र सत् (ब्रह्म) ही था । वह एक, अद्वितीय है ।

" सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । "

(तैत्तिरीय उ० । २ । १)

सत्य, ज्ञान स्वरूप, अनंत ही ब्रह्म है । इत्यादि अद्वैत-मत में जीव ही ब्रह्म है ।

" जीवो ब्रह्मैव नापरः । "

जीव शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य-स्वभाव है ।

" नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-स्वभावं
प्रत्यक्चैतन्यमेव आत्मतत्त्वम् । "

(वेदांतसार)

" एकएव तु भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थितः ;
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् । "

(ब्रह्म-बिंदु १२)

एक ही भूतात्मा नाना प्राणियों में विराजित है । वह जल में चंद्रवत् एक रूप तथा बहु रूप में दृष्ट होता है ।

"तत्त्वमसि" (तुम हो वह), "अयमात्मा ब्रह्म" (यह आत्मा ब्रह्म है), " सोऽहम् " (मैं ही वह हूँ), " अहं ब्रह्मास्मि " (मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादि वेद के महा-वाक्य जीव और ब्रह्म का अभेद प्रतिपादित करते हैं । जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं । जीव और ब्रह्म में जो भिन्नता मालूम होती है, वह वास्तव नहीं, मायिक-मात्र है । जिस भेद की प्रतीति होती है, वह उपाधिकृत है । यह उपाधि जीव का कोष है । कोष-रूप उपाधि का आश्रय कर ब्रह्म को ही जीव कहते हैं । परंतु ब्रह्म यथार्थ में उपाधि-मुक्त है । ब्रह्म सच्चिदानंद है, अतएव जीव भी सच्चिदानंद है । जीव

और ब्रह्म में नाम-मात्र का प्रभेद है, जैसे घटा-काश और महा-काश में प्रभेद है। अद्वैत-मत में ब्रह्म ही एकमात्र सद्वस्तु है, अपर जो कुछ विद्यमान मालूम होता है, वह असत्य, काल्पनिक है। माया या अविद्या के कारण उनकी ऐसी प्रतीति होती है। यथार्थ वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होने से जिस धारणा का अवसान होता है, वही मिथ्या है ; जैसे रज्जु में सर्प की धारणा मिथ्या है। ब्रह्म की यथार्थ धारणा होने से ही अविद्या अर्थात् अज्ञान का नाश होता है *।

शंकराचार्य इस मत के प्रवर्तक नहीं थे। उनके पहले भी अद्वैत-मत प्रचलित था। उनके गुरु के गुरु गौड़पाद ने मांडूक्य-उपनिषद् की जो कारिका बनाई थी, उसमें अद्वैत-मत की परिणत अवस्था का परिचय मिलता है। शंकराचार्य ने उस कारिका का भाष्य रचा है। अपने शारीरक भाष्य में उन्होंने अपने मत के समर्थन के लिये भगवान् उपवर्ष को प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया है। उपवर्ष के भी पूर्ववर्ती योगवाशिष्ठ और सूत-संहिता में अद्वैत-मत का सुस्पष्ट उपदेश है †।

जब एक ओर बौद्ध और जैनधर्मों का और दूसरी ओर वासुदेव-धर्म का उत्थान हुआ था, तब बहुत हलचल मच गई थी। स्वतंत्र युक्तियों के अवलंबन द्वारा इन धर्म-मतों के खंडन का उद्योग किया गया था। पालि-भाषा में लिखित बौद्ध-मत के स्थान को संस्कृत में लिखित महायान बौद्ध मत ने अधिकृत किया। इस मत के विरुद्ध गौतम ने न्याय-मत को स्थापित किया, और मीमांसकों ने—विशेष करके शबर स्वामी और कुमारिल भट्ट ने—कर्मकांड की श्रेष्ठता दिखाई। मीमांसकों ने केवल बौद्धों के विरुद्ध ही अस्त्र धारण नहीं किया था, उन्होंने

---

* हीरेंद्रनाथ दत्त का 'गीता में ईश्वरवाद'।

† हीरेंद्रनाथ दत्त का 'गीता में ईश्वरवाद'।

औपनिषदों—अर्थात् जिनका धर्ममत उपनिषदों के प्रमाणों पर प्रतिष्ठित है, उन—पर भी आक्रमण किया था। औपनिषदों को अपने मतों के समर्थन के लिये विशेष चेष्टा करनी पड़ी थी। उनको यह दिखाने की आवश्यकता पड़ी कि उन्हीं के मत का अवलंबन करने वालों को परमार्थ मिल सकता है। जो महात्मा इस मत को प्रतिष्ठित करने के लिये रंग-मंच पर उपस्थित हुए, उनका नाम था गौड़पादाचार्य। और कुछ समय के बाद उनके शिष्य के शिष्य शंकराचार्य हुए, जिनके मत का विस्तृत उल्लेख ऊपर किया गया है। उनके मत में ईश्वर-प्रेम तथा ईश्वर-सेवा का कोई स्थान न था। उनके मत में वास्तव जगत् की स्थिति ही न थी। जीव और ब्रह्म में भेद ही नहीं, तो जीव के द्वारा ईश्वर की उपासना कैसे होगी? अतएव यह मत वैष्णव-मत के संपूर्ण विपरीत था। उन दिनों के दक्षिण-देशीय वैष्णव-नेताओं की हार्दिक आकांक्षा थी कि जिन उपनिषदों के प्रमाणों द्वारा मायावाद की स्थापना की गई है, उन्हीं के प्रमाणों से मायावाद का खंडन कर वैष्णव-धर्म को दृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित किया जाय। इसके अतिरिक्त शैव-धर्मावलंबी लोगों का प्रभाव भी इस समय दाक्षिणात्य में थोड़ा नहीं था। इनके विरुद्ध भी वैष्णवों के लिये आत्मरक्षा करने का प्रयोजन था। अतएव ऐसे एक प्रतिभा-शाली व्यक्ति का प्रयोजन हुआ, जो इन दोनों प्रबल शत्रुओं का सामना कर सके। इस कार्य के लिये उपयुक्त इस समय रामानुजाचार्य के सिवा दूसरा कोई न था *। मृत्यु के पहले यामुनाचार्य रामानुज से मिल नहीं सके; परंतु उन्होंने रामानुज को ही इस काम के लिये चुना था, और शरीर से प्राण-वायु वहिर्गत होने के पहले अपनी शिष्य-मंडली से कह गये थे कि वह रामानुज के ऊपर यह भारी भार न्यस्त किए जाते हैं।

---

* Sir R. G. Bhandarkar's Vaishnavism.

परमात्मा ने रामानुज को यामुनाचार्य से नहीं मिलाया। रामानुज ने केवल उनके शव-देह का दर्शन कर पाया। समाधि के समय उनके शिष्य-वर्ग ने रामानुज को उनकी अंतिम अभिलाषा जताई। रामानुज ने उसी स्थान पर मृत महात्मा की इच्छा पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की। यामुनाचार्य से मिलने की आशा रखते हुए उन्होंने कांची से यात्रा की थी। अब वह आशा टूट जाने के कारण वह बहुत दुखी हुए। इसलिये उन्होंने कांची लौटने का संकल्प किया। परंतु श्रीरंगम् के वैष्णवगण उनके प्रति अत्यंत अनुरक्त हो गए थे—थोड़े समय के दर्शनों से उनकी तृप्ति नहीं हुई थी, अतएव अतिविनम्र वचनों से वे उनसे ठहरने के लिये अनुरोध करने लगे। रामानुज ने कहा—"मेरी आशा टूट गई, अब मैं न रहूँगा।" यह कहकर वैष्णवों से विदा होकर आप कांची की ओर चल पड़े।

रामानुज कांची-तीर्थ में पहुँचकर वहाँ की प्रसिद्ध विष्णु-मूर्ति—श्रीवरदाराज—की सेवा में समय बिताने लगे। उस समय कांची-क्षेत्र में कांचीपूर्ण नाम के एक हरिभक्त साधु रहते थे। यद्यपि वह शूद्र पिता और शबरी माता से उत्पन्न हुए थे, तथापि उनके सदृश हरि-भक्ति-परायण कोई न था। कांचीपूर्ण सदा एकांत चित्त से कांची-तीर्थ के देवता वरदाराज की सेवा और ध्यान में लगे रहते थे। उस महात्मा ने सर्वांतःकरण से नारायण में आत्म-समर्पण किया था। बहुत दिनों से उनके साथ रामानुज का परिचय था, और उनकी यह गुरु के समान भक्ति करते थे। कांचीपूर्ण यामुनाचार्य के शिष्य थे। रामानुज के श्रीरंगम् से लौटने के बाद कांचीपूर्ण को अपने गुरु के देहांत का समाचार मिला। वह बहुत शोकार्त हुए, और मृत गुरु के प्रति शिष्य का जो कर्तव्य होता है, वह सब इन्होंने किया। यह अनन्य-मन होकर वरदाराज की सेवा में पहले की नाई नियत रहने

लगे। आहार में, विहार में, शयन में, स्वप्न में भगवान् की चिंता, भगवान् के ध्यान, भगवान् के नाम-जप और भगवान् के भजन को छोड़ इनका दूसरा कोई काम न था। जितने दिन जाने लगे, उतना ही कांचीपूर्ण के प्रति रामानुज की भक्ति की गंभीरता बढ़ने लगी। उन्होंने सोचा, इस भक्त महात्मा का उच्छिष्ट प्रसादान्न भोजन कर अपने को कृतार्थ करेंगे। इस अभिप्राय से उन्होंने कांचीपूर्ण को भोजन के लिये अपने घर में निमंत्रित किया; परंतु दैवसंयोग से उनका अभिप्राय सिद्ध न हुआ। निर्दिष्ट समय के पहले ही कांचीपूर्ण उनके घर पहुँचे, और भोजन समाप्त कर चले गए। रामानुज उस समय घर में नहीं थे। जब लौटे, तो देखा, उनकी पत्नी रक्षांबा भोजन का पात्र साफ़ कर नहा रही हैं। पूछने पर उन्होंने कहा, शूद्र का उच्छिष्ट छूने के कारण उनका देह अपवित्र हो गया है, इसलिये उनको नहाना पड़ा। यह सुनकर रामानुज बहुत असंतुष्ट हुए, और भोजन समाप्त कर कांचीपूर्ण को खोजने के लिये वरदाराज के मंदिर में गए। कांचीपूर्ण मंदिर में बैठे थे। रामानुज ने उनके पास जाकर कहा—"कृपामय, आज ही आप मेरे पंच-संस्कार कर मेरा उद्धार कीजिए। मैं आपके शरणागत हूँ।" कांचीपूर्ण रामानुज का यह अवैदिक वाक्य सुनकर शास्त्रीय विधि के प्रति दृष्टि रख कहने लगे—"बेटा रामानुज, तुम जो कह रहे हो, वह अशास्त्रीय न होने पर भी, आचार-विरुद्ध है। यद्यपि भरद्वाज-संहिता में कहा गया है कि योगी सब योनि में जन्म ग्रहण करता है, और जिसने परमात्मारूपी भगवान् का प्रत्यक्ष किया है, उसके कुल आदि बातों का विचार न करना चाहिए, तथापि मुझसे यह काम न होगा। मैं चतुर्थ वर्ण शूद्र हूँ, और तुम वर्ण-श्रेष्ठ ब्राह्मण। शूद्र के पास ब्राह्मण का दीक्षा-ग्रहण आचार-विरुद्ध है। अतएव मैं यह निंदनीय कार्य न कर सकूँगा।"

रामानुज ने कहा—"अब मेरी मुक्ति का उपाय क्या होगा? मैं किस गुरु का शरणापन्न हूँगा? आप कृपाकर उस गुरु का नाम बता दीजिए।" कांचीपूर्ण ने सोचकर दूसरे दिन रामानुज से कहा—"तुम सब गुणों के आधार महात्मा पूर्णाचार्य के पास जाओ।" रामानुज ने भी ऐसा ही सोचा था। अतएव विलंब न कर उन्होंने श्रीरंगम् की ओर यात्रा की *।

यमुनाचार्य की परम पद-प्राप्ति के अनंतर श्रीरंगम् के वैष्णव लोग उनके वियोग-दुःख से व्यथित होकर कालक्षेप कर रहे थे। एक दिन किसी वैष्णव ने वहाँ के वैष्णवसमाज में उपस्थित होकर कहा—"परलोक-गत गुरुदेव के लिये शोक करना अब वृथा है। हम लोगों के लिये एक बुद्धिमान्, सर्वशास्त्रवित्, भगवद्भक्त, तेजस्वी, क्षमाशील रक्षक का प्रयोजन है। ये सब गुण रामानुजाचार्य में हैं। अतएव उनको हमारे मत में लाने की चेष्टा करनी चाहिए। देर न करके महात्मा पूर्णाचार्य कांची नगर को सिधारें। वहाँ पहुँचकर रामानुजाचार्य के पंच-संस्कार संपन्न करें, और कुछ समय वहाँ ठहरकर उनको वैष्णव-ग्रंथों का उपदेश दें। इस प्रकार अपने वशीभूत कर उनको किसी उपाय से यहाँ लिवा लावें।" सबने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। पूर्णाचार्य ने झट सपरिवार कांची की ओर यात्रा की। जब वह माढुरा-नगर के निकट किसी अग्रहार (ब्राह्मणों के टोले) में उपस्थित हुए, उसी समय रामानुज भी उसी स्थान में आ पहुँचे। रामानुज पूर्णाचार्य को देखकर बड़े आनंदित हुए, और उन्होंने उनके चरणों में प्रणाम किया। दोनों ने अपना-अपना आगमन-वृत्तांत परस्पर कहा। दोनों के हृदय आनंद से भर गए। रामानुज ने पूर्णाचार्य से कहा—"कृपामय, यहीं पंच-संस्कार कर संसार-कूप से मेरा उद्धार कीजिए।" रामानुज

* शरच्चंद्र शास्त्री का रामानुज-चरित।

के पंच-संस्कार उसी समय हो गए। पूर्णाचार्य रामानुजाचार्य को श्रीहरि-दासों के साम्राज्य के नायकत्व पर प्रतिष्ठित कर कहने लगे—"इस लोक में यामुनाचार्य वैष्णव-जगत् के गुरु थे। उसके तिरोभाव के बाद आपने ही अब उनका स्थान प्राप्त किया। हे वैष्णवोत्तम, आप अब प्रच्छन्न बौद्ध-संप्रदाय (अर्थात् मायावादी शंकराचार्य के मतावलंबियों) को समूल उन्मूलित कर वैष्णव-धर्म की रक्षा कीजिए।" रामानुज अवनतमस्तक होकर बैठे रहे।

अब सकुटुंब पूर्णाचार्य को साथ लेकर रामानुज कांची धाम को लौटे। वहाँ रामानुज पूर्णाचार्य से द्राविडागम (द्रविड़देशीय भक्ति-सिद्धांत) पढ़ने लगे। छः महीने के बाद पूर्णाचार्य श्रीरंगम् को लौट गए।

रक्षांबा के आचरण पर विरक्त होकर रामानुज ने संन्यास ग्रहण किया। कांचीपूर्ण ने रामानुज को भूतपुरी से कांचीपुर में लाकर उनके लिये मठ और परिचारक निर्दिष्ट कर दिए। उस दिन से रामानुज की 'यतिराज' उपाधि हुई।

कांचीपुर के पूर्व में विद्वानों से भरा हुआ एक अग्रहार था। रामानुज के बहनोई अनंत दीक्षित वहीं के रहने-वाले थे। उसका पुत्र दाशरथि वेद-वेदांग में बहुत पारदर्शी हो गया था, और भगवान् में भी उसका अशेष प्रेम था। मातुल के संन्यास-ग्रहण का समाचार पाकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ, और उसने कांचीपुर आकर उनका आश्रय ग्रहण किया। उसी समय भूतपुर-निवासी अनंत भट्ट का पुत्र कुरेश, जिसने शास्त्र में विशेष पारदर्शिता प्राप्त की थी और जिसकी भगवान् में अशेष भक्ति थी, रामानुज का शरणापन्न हुआ। इन दोनों शिष्यों पर रामानुज की विशेष प्रीति थी। ये यतिराज के पास ब्राह्म-विद्या पढ़ने लगे। यादव-प्रकाश स्वामी ने भी शैव-मत को छोड़कर वैष्णव-मत ग्रहण

किया, और रामानुज के शरणापन्न हुए। रामानुज ने उनके पंच संस्कार किए, और उनको संन्यास की दीक्षा दी। उस दिन से यादवप्रकाश का नाम हुआ गोविंददास। रामानुज ने उन्हें वैष्णव-सिद्धांत-विषयक उपदेश देकर कहा—"आप वैष्णव-मत का समर्थन कर ग्रंथ-रचना कीजिए।" गोविंददास का मन उस समय विमल भगवद्भक्ति से पूर्ण हो गया था, अतएव उन्होंने 'यतिधर्म-समुच्चय'-नामक वैष्णव-धर्म-समर्थक एक पुस्तक की रचना की। इसके बाद उनको मोक्ष-लाभ हुआ।

अब मौसी के बेटे गोविंद के लिये यतिराज के मन में चिंता उपस्थित हुई। सरल-प्रकृति गोविंद को यादवप्रकाश ने बहका-कर शैव-धर्म में दीक्षित किया था। वह कहाँ है? उसका कैसे उद्धार होगा? किस उपाय से वह वैष्णव-मत में लाया जायगा? इस चिंता में रामानुज बड़े व्याकुल हुए। उन्होंने गोविंद के हित के लिये मातुल शैलपूर्ण स्वामी के निकट एक पत्र भेजा, और उत्तर की अपेक्षा करने लगे।

इधर आदि-वैष्णवधाम श्रीरंगम् में यामुनाचार्य के शिष्यगण यतिराज की अतुल विभूति की बात सुनकर बड़े आनंदित हुए। उनको श्रीरंगम् में बुलाने के लिये वे बड़े उत्सुक हुए। यामुनाचार्य के पुत्र वररंग बड़े भक्त थे, संगीत विद्या में भी बड़े प्रवीण थे। वह कांचीक्षेत्र में भेजे गए। उन्होंने वरदराज के मंदिर में उपस्थित होकर अपने संगीत से वहाँ की वैष्णव-मंडली को विमोहित किया। अब वररंग ने उनसे श्रीरंगनाथ की सेवा के लिये यतिराज को माँगा। उन्होंने बहुत अनिच्छा के साथ वररंग की प्रार्थना स्वीकार की। विवश होकर यतिराज वरदराज को साष्टांग प्रणाम कर कुरेश, दाशरथि इत्यादि शिष्यों के साथ रवाना हुए।

यतिराज सशिष्य श्रीरंगनगर के समीप पहुँचे। वहाँ के

वैष्णव लोग कनक, छत्र, ध्वज, मृदंग, करताल आदि के साथ अभ्यर्थना कर उनको श्रीरंगनाथ के मंदिर ले गए। पूर्णाचार्य, यतिराज के दीक्षागुरु होने पर भी, उनको असामान्य पुरुष जानकर यतिराज के चरणों में प्रणत हुए। यतिराज उस समय प्रेम से आत्मविस्मृत हो रहे थे। वह महाभक्ति के साथ गुरुजी के चरणों पर गिरे। इस प्रकार अपने गुरु को सामने रखकर और सब वैष्णवों के साथ मिलकर रंगनाथजी के दर्शनों के लिये मंदिर में पहुँचे।

रामानुज ने भगवान् रंगराज को प्रणाम किया, और वैष्णवों को संबोधन कर कहा—"मेरे इस देह में जितने दिन प्राण रहेंगे, मैं उतने दिन श्रीरंगनाथ की सेवा-टहल तथा प्रिय कार्य में नियत रहूँगा।" अब रामानुज विश्राम के लिये मंदिर के सामने के मंडप में आ बैठे। उस समय पूर्णाचार्य इत्यादि सब वैष्णव उनको घेरे रहे। अनंतर रामानुज ने रंगनाथ के सेवकों को बुलाकर कहा—"आज से आप लोग बहुत सावधान होकर भगवान् रंगनाथजी की सेवा करें, भूले से भी किसी बात की त्रुटि न हो।" सेवकों ने उनकी आज्ञा का पालन करना स्वीकार किया। उस दिन से यतिपति भगवान् रंगनाथ को अपना देह-मन-समर्पण कर कुरेश, दाशरथि इत्यादि शिष्यों के साथ श्रीरंगम्-नगर में रहने लगे।

कुछ समय के बाद यतिराज को शैलपूर्ण स्वामी से समाचार मिला कि गोविंद ने वैष्णव-धर्म का आश्रय ग्रहण किया है। अब रामानुजाचार्य वैष्णव-धर्म के गूढ़ रहस्यों को जानने के लिये व्यग्र हुए। पूर्णाचार्य ने उनको अहोहृय-माहात्म्य, पुरुष-निर्णय, सिद्धित्रय, नारद-पंचरात्र, गीतार्थ-संग्रह और ब्रह्मसूत्र आदि का उपदेश किया। पीछे गोष्ठीपूर्ण नाम के एक महात्मा वैष्णव, से जिनको यामुनाचार्य कुछ मंत्रार्थ बता गए थे, रामानुज

को बहुत कठिनाई से उन मंत्रार्थों की प्राप्ति हुई। गोष्ठीपूर्ण ने पहले उन्हें अष्टाक्षरी मंत्र दिया, और यथाविधि न्यास, मुद्रा, ऋषि, देवता इत्यादि का उपदेश दिया। महापापी भी उस मंत्र के जप से विमुक्त हो सकता है। मुमुक्षु व्यक्तियों के लिये वह एक-मात्र जप है, उसके जप, से वे मोक्ष-लाभ करते हैं। गोष्ठीपूर्ण थे रामानुज से शपथ करवा ली थी कि वह मंत्र-दूसरे किसी से न कहेंगे। परंतु उसी दिन गोष्ठीपुर में भगवान् नृसिंह स्वामी का उत्सव था। वहाँ नाना देशों से अनेक वैष्णव उपस्थित हुए थे। उनके प्रति करुणायुक्त होकर रामानुज ने मंदिर के द्वार-देश पर उच्चैःस्वर से उस मंत्र का बारंबार पाठ किया। ७४ वैष्णव उस मंत्र को पाकर कृतार्थ हुए। प्रतिज्ञा-भंग से नरकगामी होने को भी स्वीकृत होकर उन्होंने दूसरों का कल्याण किया। गोष्ठीपूर्ण पहले बहुत असंतुष्ट हुए थे ; पर पीछे उनकी महानुभावता देखकर हृष्टांतःकरण से उन्हें बुलाकर 'मंत्रार्थ' इत्यादि मंत्रों का उपदेश दिया, और सब वैष्णवों को बुलाकर उनसे कह दिया कि आज से वैष्णवों के सिद्धांत का नाम रहेगा 'रामानुज-दर्शन'। यामुनाचार्य के पुत्र वररंग से भी रामानुज को उनके सिखाए हुए कुछ मंत्रों के 'चरमार्थ' मिले। श्रीरंगम्-नगरवासी मालाधर-नामक एक वैष्णव ने रामानुज को सहस्रगीति की व्याख्या सिखाई। यमुनाचार्य प्राण-त्याग करने के पहले रामानुज के लिये सब मंत्रार्थ नाना शिष्यों के पास सौंप गए थे। पूर्णाचार्य, गोष्ठीपूर्ण, मालाधर और वररंग से उन्हें वे सब मिल गए। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान से विभूषित होकर रामानुज शास्त्र की चर्चा तथा शिष्यों की अध्यापना करते हुए श्रीरंगम् में आनंद से काल-यापन करने लगे। भगवान् रंगनाथ की सेवा में उनका गाढ़ अनुराग था। जिसमें अर्चना, भोग, अतिथि-सेवा इत्यादि का अच्छा प्रबंध

हो, इसके लिये वह सदा सतर्क रहते थे। देव-सेवा का भली भाँति निर्वाह होने लगा। पहले देवपूजा और अतिथि अभ्यागतों की सेवा के लिये ढेर-की-ढेर जो सब सामग्रियाँ आती थीं, देवल तथा पाचक लोग उनका अधिकांश अपहरण करते थे। अब रामानुज की तीक्ष्ण दृष्टि का अतिक्रम करना उनको असंभव हुआ। इससे पुजारी लोग बहुत असंतुष्ट और उत्तेजित हो गये, और उन्होंने यतिराज के प्राण-नाश का संकल्प किया। यतिराज स्वयं नगरवासियों के द्वार-द्वार पर भिक्षा कर अपनी जीविका का निर्वाह करते थे। एक देवल ने किसी लोभी ब्राह्मण को धन के द्वारा वशीभूत कर एक दिन उनको विषान्न दिला दिया। दूसरे किसी दिन उन्हें विष-मिश्रित प्रसाद दिया। परंतु परमात्मा की कृपा से वह दोनों बार बच गये। तब पूजकगण भग्न-मनोरथ होकर उनके शरणापन्न हुए। यतिराज ने उनको क्षमा कर उनके साथ सौहार्द स्थापित किया।

कुछ समय के बाद यज्ञमूर्ति-नामक एक अद्वैतवादी, दिग्विजयी पंडित रामानुज के साथ शास्त्रार्थ के लिये श्रीरंगम् में आये। १७ दिन तक वादानुवाद चला। १८ वें दिन वाद आरंभ होने के पहले ही यज्ञमूर्ति ने कातर और यतिराज के चरणों पर प्रणत होकर कहा—"ज्ञानालोचन के सिवा मैंने अब तक कुछ नहीं किया। इसलिये मेरा हृदय शुष्क हो गया। अहमिका ने मेरे हृदय पर अधिकार कर भक्तिमार्ग का द्वार रुद्ध कर दिया।" यह कह कर यज्ञमूर्ति रामानुज के शरणापन्न हुए। यतिवर ने उनको पंच-संस्कारों से संस्कृत किया और उनका 'देवराज' नामकरण किया। रामानुज ने उनके लिये स्वतंत्र आश्रम बनवा दिया। उन्होंने यतिराज से भट्टनाथ के प्रबंध और समग्र द्राविड़-सिद्धांत का अध्ययन कर, यतिराज के अभिप्राय के अनुसार, 'ज्ञानसार' और 'प्रमेयसार'-नामक दो

ग्रंथ द्राविड़-भाषा में लिखकर वैष्णव-संप्रदाय का बहुत उपकार किया।

कुछ काल व्यतीत होने पर यतिराज तीर्थ-भ्रमणार्थ निकले। पहले विद्वज्जन-परिवृत अष्टसहस्र-ग्राम में उपस्थित हुए। वहाँ उनके वरदार्य और यज्ञेश-नामक दो शिष्य थे। उनकी गुरुभक्ति की परीक्षा कर वह कांचीक्षेत्र होते हुए वैष्णव लोगों के साथ वेंकटाचल की ओर जाने लगे। रास्ते में श्रीपर्वत के निकट कपिलतीर्थ-नामक पवित्र तीर्थस्थान में शठकोप इत्यादि दश योगियों की मूर्तियों के दर्शन किए। शठकोप या शठारि एक ऋषियों के सदृश ज्ञानी पुरुष थे। नीच-जातीय शिल्पी के कुल में उनका जन्म हुआ था। वह ईश्वरदत्त प्रतिभा के बल से असाधारण ज्ञानी हुए थे, एवं उन्होंने श्रुतियों का सारांश मंथन कर पहले द्राविड़-देश की भाषा में 'शठारि-सूत्र' नाम के वैष्णव-मत-संबंधी ग्रंथ की रचना की थी। वह बड़े भक्त साधु थे, और उन्होंने साधारण लोगों को वैष्णव धर्म में दीक्षित करने की चेष्टा की थी, पर कृतकार्य न हो सके थे। रामानुज ने शठारिसूत्र का अवलंब कर अपने संम्प्रदाय को गठित किया।

दूसरे दिन सामने विशाल वृष-पर्वत देखकर उनके मन में बड़ा आश्चर्य हुआ, और उन्होंने कुछ दिन वहाँ ठहरने का संकल्प किया। इस समय उस देश के जैनधर्मावलंबी राजा विट्ठलदेव ने रामानुज के प्रभाव से मुग्ध होकर वैष्णव-धर्म ग्रहण किया। रामानुज ने उनके पंच-संस्कार किए और अब से राजा का नाम 'विष्णुवर्धन' हुआ। राजा ने रामानुज को एक ग्राम और ३० खंड उर्वरा भूमि दी। पर रामानुज ने इन भूखंडों को ब्राह्मणों में बाँट दिया।

इसके बाद वह वेंकटाचल के पाद-देश में पहुँचे, पर दैन्य से वेंकटगिरि पर चढ़ने को अनिच्छुक हुए। पीछे वहाँ के

शैलपूर्ण स्वामी इत्यादि वैष्णवों के आग्रहातिशय से चढ़ना स्वीकार किया। यतिराज ने भक्ति के साथ वेंकटेश्वर को प्रणाम किया और उनकी प्रदक्षिणा की। वेंकटाचल की उपत्यका में उनके मातुल शैलपूर्ण स्वामी का घर था। रामायण का अध्ययन करने को वहाँ वह एक वर्ष तक रहे। उनका मौसेरा भाई गोविंद वैष्णव धर्म ग्रहण करने के बाद शैलपूर्ण स्वामी का किंकरत्व ग्रहण कर उनके घर में रहता था। मातुल-भवन में उसे देखकर यतिराज बहुत आनंदित हुए।

रामानुजाचार्य असाधारण पंडित तथा शास्त्रज्ञ थे। अद्वैत-वाद का खंडन कर जीवात्मा और परमात्मा में संबंध का निर्णय करना ही उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य था। उन्होंने यामुनाचार्य के मृत देह के निकट प्रतिज्ञा की थी कि नर-नारियों की मुक्ति के निमित्त श्रुति का यथार्थ तात्पर्य ग्रहण कर ब्रह्मसूत्र का भाष्य बनावेंगे। वह प्रतिश्रुति पूर्ण करने को वह अब यत्नवान् हुए। परंतु बोधायन-वृत्ति के निरीक्षण के बिना उस प्रकार के भाष्य का निर्माण करना असंभव था। उस ग्रंथ के अवलोकन के निमित्त उन्होंने कुरेश को साथ लेकर काश्मीर के प्रसिद्ध शारदा-पीठ के अभिमुख यात्रा की। वहाँ पहुँचकर बोधायन-वृत्ति का संग्रह किया, और उसे लेकर एक दिन श्रीरंगम् की ओर रवाना हुए। शारदापीठ के अधिकारियों को जब मालूम हो गया कि दक्षिणी पंडित उस ग्रंथ को ले भागा है, तब रामानुज एक महीने का पथ अतिवाहित कर चुके थे। परंतु वह पकड़े गये, और बोधायन-भाष्य उनसे छीन लिया गया। रामानुज बहुत दुखी हुए। परंतु कुरेश ने उनसे कहा—"प्रभो! आप चिंता न कीजिए; क्योंकि प्रतिदिन रात को मैं वह भाष्य मनोयोग के साथ पढ़ता था, अतएव संपूर्ण मुझे कंठ हो गया है।" यह सुनकर यतिराज बहुत संतुष्ट हुए।

रामानुज और कुरेश श्रीरंगम् पहुँचे। कुरेश तथा दाशरथि को साथ लेकर रामानुज भाष्य-रचना में प्रवृत्त हुए। उन्होंने कहा—"वत्सगण! देखो, अद्वैतवादी लोग कहते हैं कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियों के अर्थ-ज्ञान सहित सत्कर्म से मुक्ति मिलती है। केवल सत्कर्म या ज्ञान या दोनों के द्वारा ईश्वर के प्रति भक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। भक्ति न उत्पन्न होने से मुक्ति की संभावना नहीं होती। अतएव मैं संपूर्ण रूप से अद्वैतवाद का खंडन कर विशिष्टाद्वैतवाद के मत की प्रतिष्ठा करने की इच्छा करता हूँ।" भाष्य-रचना का काम आरंभ हुआ। रामानुज कहते गये और कुरेश लिखते गये। इस प्रकार वेदांत-भाष्य, वेदांतदीप, वेदांत-सार, वेदांत-संग्रह और भगवद्गीता का भाष्य रचे गये।

रामानुज (२)

उत्तरार्द्ध

शंकराचार्य के मत की आलोचना पहले की गई है। अब रामानुजाचार्य ने उस मत का किस प्रकार खंडन किया है, यह देखना चाहिये। "सदेव इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्", इस श्रुति-वाक्य का अर्थ है "पहले, अर्थात् सृष्टि के पहले एक-मात्र ब्रह्म था। उस समय जगत् और जीवात्मा सब अव्यक्त अवस्था में ब्रह्म में लीन थे।" इस श्रुति से जगत् मिथ्या है, ऐसा प्रमाणित नहीं होता।

शंकर ने कहा है—"श्रुतियों में सगुण तथा निर्गुण उभयविध ब्रह्म का वर्णन रहने के कारण श्रुति-वाक्यों में परस्पर विरोध है; परंतु ब्रह्म के निर्गुणत्व की प्रतिपादक श्रुतियों का प्रामाण्य अधिक है।" रामानुज ने इसके उत्तर में कहा है—" श्रुति-वाक्यों

रामानुज और कुरेश श्रीरंगम् पहुँचे। कुरेश तथा दाशरथि को साथ लेकर रामानुज भाष्य-रचना में प्रवृत्त हुए। उन्होंने कहा—"वत्सगण ! देखो, अद्वैतवादी लोग कहते हैं कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियों के अर्थ-ज्ञान सहित सत्कर्म से मुक्ति मिलती है। केवल सत्कर्म या ज्ञान या दोनों के द्वारा ईश्वर के प्रति भक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। भक्ति न उत्पन्न होने से मुक्ति की संभावना नहीं होती। अतएव मैं संपूर्ण रूप से अद्वैतवाद का खंडन कर विशिष्टाद्वैतवाद के मत की प्रतिष्ठा करने की इच्छा करता हूँ।" भाष्य-रचना का काम आरंभ हुआ। रामानुज कहते गये और कुरेश लिखते गये। इस प्रकार वेदांत-भाष्य, वेदांतदीप, वेदांत-सार, वेदांत-संग्रह और भगवद्गीता का भाष्य रचे गये।

रामानुज (२)

उत्तरार्द्ध

शंकराचार्य के मत की आलोचना पहले की गई है। अब रामानुजाचार्य ने उस मत का किस प्रकार खंडन किया है, यह देखना चाहिये। "सदेव इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्", इस श्रुति-वाक्य का अर्थ है "पहले, अर्थात् सृष्टि के पहले एक-मात्र ब्रह्म था। उस समय जगत् और जीवात्मा सब अव्यक्त अवस्था में ब्रह्म में लीन थे।" इस श्रुति से जगत् मिथ्या है, ऐसा प्रमाणित नहीं होता।

शंकर ने कहा है—"श्रुतियों में सगुण तथा निर्गुण उभयविध ब्रह्म का वर्णन रहने के कारण श्रुति-वाक्यों में परस्पर विरोध है; परंतु ब्रह्म के निर्गुणत्व की प्रतिपादक श्रुतियों का प्रामाण्य अधिक है।" रामानुज ने इसके उत्तर में कहा है—"श्रुति-वाक्यों

दोषहीन, शुद्ध, सर्वश्रेष्ठ, निर्मल, एकरूप ब्रह्म जाना जाता या प्राप्त होता है, वही ज्ञान है, अपर जो कुछ है, सब अज्ञान है।"

शास्त्रों में निर्विशेष (अभेद) प्रतिपादित नहीं हुआ है। चित, (जीव), अचित् (स्थावरादि) और ईश्वर (ब्रह्म) स्वरूपतः भिन्न नहीं हैं, यह भी शास्त्र में उपदिष्ट नहीं हुआ है। शंकराचार्य के मत में निर्गुण ब्रह्म ही सत्य है, सगुण ब्रह्म सत्य नहीं। रामानुज के मत में सगुण ब्रह्म ही सत्य है, निर्गुण ब्रह्म सत्य नहीं। रामानुज का मत विशिष्टाद्वैतवाद है। विशिष्टाद्वैतवादी लोग कहते हैं कि निर्विशेष ब्रह्म का प्रमाण नहीं है। उनका कथन है कि ब्रह्म ही जगत् का कर्ता और उपादान है अर्थात् ईश्वर ही जगत् का उपादान और निमित्त-कारण है। उसी से जगत् की उत्पत्ति, उसी में जगत् की स्थिति और उसी में जगत् का लय होता है।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तत् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।"
(तैत्तिरीय उ० । ३ । १)

अर्थात् "जिससे सब भूत उत्पन्न हुए हैं, जिसके द्वारा जीवित हैं, और अंत में जिसमें विलीन होंगे, उसको जानना होगा। वही ब्रह्म है।" यह ब्रह्म का लक्षण है। इसीलिये बाद-रायण ने सूत्र बनाया है--"जन्माद्यस्य यतः।" ब्रह्मसूत्र १।१।२। "जिससे जगत् का जन्मादि सिद्ध होता है, वही ब्रह्म है।" अद्वैतवादी लोग इसको ब्रह्म का तटस्थ लक्षण कहते हैं, और "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।" यही उनके मत में ब्रह्म-का स्वरूप लक्षण है। विशिष्टाद्वैतवादी लोग तटस्थ और स्वरूप-लक्षणों में प्रभेद नहीं स्वीकार करते।

विशिष्टाद्वैत-मत में ईश्वर, जीव और जड़, ये तीन पदार्थ हैं। द्रव्य द्विविध है—जड़ और अजड़। अजड़ वा चित् के दो विभाग हैं—जीव और ईश्वर। अद्वैतवादी लोगों का कथन—

"ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ है, और जीव तथा जगत्-प्रपंच रज्जु-सर्प की नाई अविद्या का परिकल्पना-मात्र है"—विशिष्टा-द्वैतवादियों का अनुमोदित नहीं है। शंकराचार्य ने कहा है—"पुरुष, प्रकृति और परमेश्वर, ब्रह्म के ये तीन भाव हैं।"

विशिष्टाद्वैतवादीगण कहते हैं—"प्रकृति (जड़) और पुरुष (जीव) स्वतंत्र पदार्थ होने पर भी संपूर्ण ईश्वराधीन हैं। ईश्वर जीव और जड़ में अंतर्यामी है। इसलिये ये दोनों ईश्वर के शरीर हैं।" इन कथनों के प्रमाण के लिये रामानुज ने श्रुति तथा स्मृति-वाक्य उद्धृत किए हैं।

"नेह नानास्ति किंचन" (यहाँ बहुत्व नहीं है), "एकमेवा-द्वितीयम्" (ब्रह्म एक और अद्वितीय है), "आत्मा वा इदमेकाग्र आसीत्" (पहले यह परमात्मा ही था) इन श्रुति-वाक्यों का यह उद्देश्य नहीं है कि जीव और जगत् मिथ्या कल्पना-मात्र है; इनका यथार्थ तात्पर्य यह है कि प्रकृति और पुरुष भगवान् के प्रकार या विधा (Aspect)-मात्र हैं। प्रलय के समय प्रकृति-पुरुष नाम-रूप-भेद-रहित होकर अनिर्देश्य रूप से ब्रह्म में विलीन रहते हैं—उस अव्याकृत अवस्था में ब्रह्म एकमेवाद्वितीयम् है। तब तद्विशिष्ट ब्रह्म को छोड़कर कुछ भी नहीं रहता। परंतु वृक्ष के बीज के सदृश उनमें जगत् सूक्ष्म, अव्यक्त अवस्था में रहता है।

विशिष्टाद्वैतवादी लोग कहते हैं कि ब्रह्म की दो अवस्थाएँ हैं—कर्यावस्था और कारणावस्था—प्रलय में कारणावस्था और सृष्टि में कार्यावस्था। दोनों अवस्थाओं में प्रकृति-पुरुष ब्रह्म के शरीर हैं—प्रलय में सूक्ष्म रूप में और सृष्टि (कर्यावस्था) में स्थूल रूप में।

अद्वैतवादी लोग कहते हैं कि जीव और ब्रह्म स्वरूपतः अभिन्न हैं। विशिष्टाद्वैतवादी लोग कहते हैं जीव और ब्रह्म स्वतंत्र

वस्तुएँ हैं। ब्रह्म है विश्व का पति, आत्मा का ईश्वर, आत्मा का आधार, अखिल का आश्रय ("पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं", "आत्माधारोऽखिलाश्रयः")।

विशिष्टाद्वैतवादी लोग यह भी कहते हैं कि जब ब्रह्म अखंड वस्तु है, तब जीव ब्रह्मखंड नहीं हो सकता। जीव ब्रह्म की विभूत है। जैसे प्रभा अग्नि का अंश कही जाती है, जैसे देह देही का अंश कही जाती है, वैसे जीव भी ब्रह्म का अंश है।

विशिष्टाद्वैत-मत में ईश्वर का लाभ करना ही परम पुरुषार्थ है। पुरुषोत्तम का लाभ करना ही परम सिद्धि लाभ करना है—यह सिद्धि पुनरावृत्ति-रहित भगवद्-पद्लाभ है। मुक्त पुरुष ब्रह्मोचित गुण प्राप्त करते हैं; परंतु उनके साथ एकीभूत नहीं होते—अद्वैतवादी कहते हैं: एकीभूत होते हैं *।

अचित् की सूक्ष्म अवस्था ही (सांख्योक्त) प्रकृति है। प्रकृति और पुरुष (परमात्मा) के संयोग से ब्रह्मांड की उत्पत्ति हुई है। परमात्मा या ईश्वर दोषरहित है। वह अनादि अनंत है, सब जीव और अजीवों में है, सबका नियंता है, वह आनंद-मय और ज्ञानमय है, सृष्टिस्थितिप्रलयकर्ता है। जीव बहु हैं और तीन श्रेणी के हैं—(१) बद्ध, (२) मुक्त और (३) नित्य। बद्ध जीव कुछ सुखान्वेषी हैं और कुछ मुक्तिप्रार्थी। मुक्ति का अभिलाषी भक्ति-मार्गावलंबी है। केवल श्रेष्ठ तीन वर्णों के लोग भक्ति-मार्ग के अधिकारी हैं। एक श्रेणी के भक्त और हैं, जिनको प्रपन्न कहते हैं। कुछ प्रपन्न धर्मार्थकाम चाहते हैं, अवशिष्ट मोक्ष। सब वर्णों के लोग प्रपन्न हो सकते हैं। भक्ति के लिये कर्मयोग और ज्ञानयोग आवश्यक हैं। कर्म से ज्ञान की प्राप्ति होती है, और ज्ञान से भक्ति की †।

---

* श्रीयुक्त हीरेन्द्रनाथ दत्त का 'गीता में ईश्वरवाद'।

† Sir R. G. Bhandarkar's Vaishnavism.

उत्तर-भारत में रामानुज के मतावलंबी बहुत थोड़े हैं; परंतु दक्षिण-भारत में उनकी संख्या अधिक है।

अतएव देखा जाता है कि रामानुज का दर्शन उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र पर प्रतिष्ठित है; परंतु उनका सृष्टि-तत्त्व पुराणों तथा सांख्य-दर्शन से लिया गया है। उनका वैष्णवमत प्राचीन पंचरात्र-मत का अनुगामी है। उनके संप्रदाय के लेखों में विष्णु का नाम कम मिलता है, और गोपाल कृष्ण के नाम का व्यवहार कहीं नहीं पाया जाता। नारायण का नाम ही विशेषता से पाया जाता है, और प्रायः परमात्मा के लिये वासुदेव के नाम का व्यवहार किया गया है। राधाकृष्ण का उल्लेख कहीं नहीं है। रामानुज के मत की भक्ति में केवल उपासना का प्राधान्य है, अतएव कुछ नीरस-सी है *। चैतन्य की भक्ति सरस और असीम माधुर्यपूर्ण है।

अब रामानुज के जीवन का अवशिष्ट वृत्तांत संक्षेप में दिया जाता है।

भाष्यादि की रचना के बाद श्रीरंगम् में रहने के समय रामानुज के शिष्यों ने उन्हें दिग्विजय को बहिर्गत होने के लिये उत्साहित किया। उन्होंने शीघ्र ही देश-भ्रमण के लिये यात्रा की। पहले चोल-मंडल की ओर गये। वहाँ से पांड्य-देश में पहुँचे। वहाँ से कुरंगनगर होते हुए केरल-देश में, द्वारका में, पुष्कर-तीर्थ में, अयोध्या में, नैमिषारण्य और मथुरा-वृंदावन में गये। तब काश्मीर में उपस्थित हुए। इन सब स्थानों में अद्वैतवादियों को परास्त किया।

अब वह वाराणसी में पहुँचे। वाराणसी के अधिकांश पंडित ही अद्वैतवादी और शैव थे। वहाँ भी वैष्णव मत की जय हुई। वाराणी से पुरुषोत्तम-क्षेत्र में गये। यह महातीर्थ अति पुरातन

* Sir R. G. Bhandarkar's Vaishnavism.

और प्रसिद्ध है। इस स्थान के अधिवासीगण परम वैष्णव और भगवद्भक्त हैं। यहाँ रामानुज ने पंचरात्र-आगम के अनुसार भगवान पुरुषोत्तम की सब पूजा, उत्सवादि संपन्न कराना चाहा। पर इस स्वाधीन क्षेत्र में वह सफलकाम नहीं हुए। पुरुषोत्तम से वह कूर्मक्षेत्र, सिंहाद्रि-गरुड़ाद्रि होते हुए वेंकटाचल में उपस्थित हुए। वहाँ वैष्णव-धर्म प्रतिष्ठित कर वह भूतपुरी होते हुए श्रीरंगम् पहुँचे।

इसके बाद रामानुज ने धनुर्दास-नामक एक स्त्रैण शूद्र का उद्धार किया। धनुर्दास अनासक्त हृदय से भक्ति-पथ का पथिक होकर जीवन अतिवाहित करने लगा।

रामानुज की वृद्धावस्था में शैव-धर्मावलंबी चोलराज ने वैष्णवों के प्रति घोर अत्याचार आरंभ किया। उन्होंने सभा आह्वान कर सबको एक पत्र पर "मैं शैव हूँ" लिखकर हस्ताक्षर करने की आज्ञा दी। शैवों ने हस्ताक्षर किए; पर वैष्णव लोग दंडित होने के भय से देश छोड़कर भागे। चोलराज ने सोचा कि वैष्णवाग्रगण्य रामानुज को उस सभा में बुलाकर उनके हस्ताक्षर कराने से सब वैष्णवों का मत ग्रहण करना सहज होगा। अतएव रामानुज को लाने के लिये आदमी भेजे गये। परंतु उनके शिष्यों ने उनकी रक्षा के लिये उन्हें श्रीरंगम् छोड़ जाने को कहा। यतिराज ने कई एक शिष्यों को साथ लेकर झट वैसा ही किया। उन्होंने जंगल के भीतर एक व्याध-पल्ली में आश्रय लिया। वहाँ के व्याध लोग वैष्णव और यतिराज के शिष्य थे। उन्होंने उनकी परिचर्या की। वहाँ से रवाना होकर एक ब्राह्मण के घर में पहुँच ब्राह्मण-पत्नी चेलांचलांबा, जो यतिराज की शिष्या थी, उसके यहाँ वह कुछ दिन रहे। वहाँ से बहुजनपद और नगर पर्यटन कर और भिन्न-भिन्न

मतावलंबियों को वैष्णव-धर्म में दीक्षित कर यादवाद्रि में अव-स्थान करने लगे।

यहाँ किसी वैष्णव ने उन्हें समाचार दिया कि रामानुज के पलायन के बाद चोलराज के दूतों ने पूर्णाचार्य और कुरेश को चोल-राजधानी त्रिशिरपल्ली (त्रिचिनापल्ली) में ले जाकर राजसभा में उपस्थित किया। चोलराज ने उन्हें प्रतिज्ञा-पत्र में हस्ताक्षर करने की आज्ञा दी। उन्होंने वीरों की नाई वैष्णव-धर्म का श्रेष्ठत्व प्रकाश किया। चोलराज ने क्रोध में अधीर होकर उनके चक्षु उत्पाटित करने की आज्ञा दी। आँखें फोड़ दी गईं। वैष्णव लोग उन्हें लेकर श्रीरंगम् की ओर रवाना हुए। पूर्णाचार्य वार्धक्य में चक्षु की यंत्रणा सह नहीं सके। श्रीरंगम् में पहुँचने के पहले ही उनका देहांत हुआ।

यतिराज वैष्णव के मुख से अपने गुरु के देहत्याग तथा प्रिय शिष्य कुरेश के नेत्रोत्पाटन का समाचार सुनकर अत्यंत व्यथित हुए। कुरेश की सांत्वना के लिये एक ज्ञानी वैष्णव को श्रीरंगम् में भेजा। कुरेश इस समय वृषभाचल में रहते थे; क्योंकि श्रीरंगम् नगर के द्वारपालों ने वहाँ उनका प्रवेश निषेध किया था। वृषभाचल में रहने के समय कुरेश ने सुन्दर भुजस्तोत्र, श्री स्तोत्र, अतिमानुषस्तोत्र और वैकुंठस्तोत्र की रचना की थी। महात्मा गोष्ठीपूर्ण की भी चरम दशा उपस्थित हुई, और वह यामुनाचार्य के पादपद्मों की चिंता करते-करते वैकुंठ को सिधारे। यतिराज इस समाचार से बहुत शोकार्त हुए।

चोलराज ने अपने राज्य में जितने विष्णुमंदिर थे, उनका विनाश किया। वैष्णवक्षेत्र श्रीरंगम् के नाश के लिये श्रीरंगम् जा रहे थे कि रास्ते में अकस्मात् उनके कंठ में एक व्रण उत्पन्न हुआ। वह व्रण बहुत बड़ा हो गया, और उसमें असंख्य कृमि (कीड़े)

उत्पन्न हुए। कुछ दिन के बाद वह कालकवलित हुए। कंठ में कृमि होने के कारण मृत चोलराज का नाम कृमिकंठ हुआ।

विद्युत्-वेग से यह समाचार सारे देश में फैल गया। वैष्णव-समाज को बहुत आनंद हुआ। १२ वर्ष के बाद रामानुज सशिष्य श्रीरंगम् लौटे। शठारि के स्मरणार्थ कुरुका-नगरी में प्रतिवर्ष महोत्सव हुआ करता है। श्रीरंगम् में लौट आने के बाद वह एक वर्ष के महोत्सव में उपस्थित हुए। शठारि-मूर्ति को भक्ति के साथ प्रणाम कर समवेत जन-संघ को संबोधन कर वह कहने लगे—"इन महात्मा ने मानवों के उद्धार के लिये जन्म-ग्रहण किया था। जन्मांतर-सिद्ध महापुरुष अलौकिक प्रतिभा से वेद का निगूढ़ अर्थ द्राविड़ भाषा में ग्रथित कर 'द्राविड़ वेद' प्रकाशित कर गए। वही आदि वैष्णव-दर्शन है। उस ग्रंथ के आधार पर वैष्णव-दर्शन और वैष्णव-मत प्रचारित हो रहे हैं। हे भक्तगण, आप सदा इस महात्मा के प्रति भक्तिमान् रहिए। महात्मा शठारि जगत् का हित कर गये हैं। मानवकुल सदा के लिये उनका ऋणी है।"

रामानुज स्वामी की देह क्रमशः जराजीर्ण हो गई। उनके शिष्यगण उनकी सेवा में लगे रहे। इस समय कुरेश का वैकुंठवास हुआ। यतिराज बहुत शोकार्त हुए।

इस प्रकार यतिराज ने जनगण के प्रति कृपा-वितरणार्थ सुदीर्घकाल श्रीरंगम् में वास किया। उनकी आयु एक सौ बीस वर्ष की हो गई। उनका वैकुंठ-यात्रा का दिन उपस्थित हुआ। उस दिन प्रातःकाल ही स्नान समाप्त कर ध्यानस्थ हुए। उनके शिष्यगण उन्हें घेरे रहे। यामुनाचार्य के पादपद्मों की चिंता करते हुए उनका प्राणवायु ब्रह्मरंध्र भेदकर वहिर्गत हो गया।

रामानुजाचार्य ने अपने दीर्घ जीवन-काल में असंख्य महत् कार्य किए। उनके असाधारण पांडित्य, अनुपम भक्ति और अदम्य प्रचारोत्साह के कारण धर्म-जगत् में एक नूतन युग का सूत्रपात हुआ। उन्होंने क्षण-भंगवादी बौद्धों के, देहात्मवादी चार्वाक संप्रदाय के, दांभिक शैवों के, ब्रह्म तथा जीव के एकत्व-वादी प्रच्छन्न बौद्धों (अद्वैतवादी शंकराचार्य संप्रदायवालों) के, अनीश्वर मीमांसकों के और ईश्वर-अनपेक्ष सांख्यों के मतों को संपूर्णता से उन्मूलित कर जीवेश्वर की भिन्नता-प्रतिपादक मानव हृदय के आकांक्षित सेव्य-सेवक भाव के पोषक भक्ति-मत का प्रचार किया। आपका नाम चिर-स्मरणीय रहेगा।

नदिया-गौरव

श्री चैतन्यदेव और रघुनाथशिरोमणि के समय में नवद्वीप ने गौरव के शिखर-देश पर आरोहण किया था। इस समय न्यायशास्त्र के अध्यापन का प्राधान्य मिथिला से उठकर नवद्वीप में चला आया था और नवद्वीप को उपाधि-दान का अधिकार मिला था। इसी समय प्रसिद्ध स्मृति-शास्त्र-संस्कारक रघुनन्दन स्मार्त-भट्टाचार्य और तन्त्र-शास्त्र के सङ्ग्रहकर्ता कृष्णानन्द आगमवागीश का जन्म हुआ था और उनके द्वारा हिन्दू-समाज का सुप्रबन्ध तथा उसकी दुर्नीति का निराकरण हुआ था। इसी समय भगवान् श्रीचैतन्य का अवतार हुआ था और वङ्गदेश भक्ति-स्रोत से प्लावित हुआ था। इसी समय भक्ति-शास्त्र तथा बँगला-पदावली-साहित्य का सूत्रपात हुआ था, जिसके द्वारा पीछे बँगाली लोग भाव-राज्य के अधिकारी हुए और वङ्गभाषा पुनीत, अलङ्कृत और परिमार्जित हुई। ज्योतिष-शास्त्र की चर्चा भी इस समय कम न थी। यहाँ के प्रसिद्ध नैयायिक (रघुनाथ

और चैतन्यदेव के गुरु) वासुदेव सार्वभौम अभी तक जीवित थे और उत्कल के राजा गजपति प्रतापरुद्र के द्वार-पण्डित होकर पुरीधाम में विराज रहे थे। ये महात्मा पहले मायावादी वैदान्तिक थे, किन्तु जब श्रीचैतन्य ने नीलाचल (पुरीधाम) को अपना वासस्थान बनाया तब उनकी अलौकिक भक्ति से आकृष्ट हो वासुदेव ने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर उनकी अन्तरंग सहचर-गोष्ठी में प्रवेश-लाभ किया था।

वैष्णव-ग्रन्थों से नवद्वीप का जो विवरण मिलता है उससे जाना जाता है कि नवद्वीप उस समय अति समृद्ध नगर था, किन्तु आज-कल उस समृद्धि के शतांश का एक अंश भी विद्यमान नहीं है। भागीरथी माता की गति के बार बार परिवर्तन के कारण नगर का भीषण परिवर्तन हो गया है। अब तो भागीरथी ने नगर के पूर्व में प्रवाहित होकर नवद्वीप को नदिया-ज़िले से विच्छिन्न कर दिया है। गौरव के समय के जितने चिह्न—मन्दिरादि, श्रीचैतन्य जन्म-स्थान, वासुदेव सार्वभौम, रघुनन्द, कृष्णानन्द इत्यादि के भवन और चतुष्पाठियाँ, 'श्रीवास-अङ्गन', 'हरिघोष का गोयाल' * इत्यादि थे, अब नदी-गर्भ में विलीन हो गये हैं। आधुनिक नवद्वीप तो प्राचीन नवद्वीप का कङ्काल-मात्र है। अब नवद्वीप से शान्तिपुर जाने में पार उतरना पड़ता है।

चैतन्यदेव के समय के नवद्वीप को यदि हम एक विराट् पाठशाला कहें तो अत्युक्ति न होगी। छात्रों से ही नवद्वीप आठो पहर गुलज़ार रहता था। गली गली चतुष्पाठियाँ थीं।

किसी में व्याकरण और काव्य-मात्र की पढ़ाई होती थी,

---

* बँगला 'गोयाल' शब्द गोशाला का अपभ्रंश है। रघुनाथ की चतुष्पाठी हरिघोष की गोशाला में बैठती थी।

किसी में इनके अतिरिक्त धर्मशास्त्र का भी पाठ दिया जाता था। व्याकरण सब छात्रों को अवश्य समाप्त करना पड़ता था। उसके अनन्तर कोई सब काव्य-नाटकादि अध्ययन कर, कोई कुछ काव्य-मात्र पढ़कर, कोई बिना काव्य पढ़े स्मृति या न्याय का अध्ययन आरम्भ करते थे। थोड़े से छात्र ज्योतिष या पुराण का अनुशीलन भी करते थे। इस काल के परवर्ती काल में तन्त्रशास्त्र तथा भक्तिशास्त्र की चर्चा भी शुरू हुई थी। जिसको जिस शास्त्र में रुचि होती थी वह वही पढ़ता था, कुछ रोक-टोक नहीं थी। मेधावी छात्रगण क्रमशः व्याकरण, काव्य, स्मृति, न्याय, ज्योतिष इत्यादि सभी शास्त्रों की आलोचना करते थे। वेद के मन्त्र-भाग तथा ब्राह्मण-भाग की चर्चा यहाँ पर कभी होती थी या नहीं इसका पता नहीं चलता। परन्तु न्याय की पढ़ाई के लिए ही नवद्वीप की प्रसिद्धि थी। भारत के दूर दूर प्रान्तों से न्याय-शास्त्र पढ़ने के लिए यहाँ विद्यार्थी समवेत होते थे।

प्रत्येक अध्यापक अपने छात्रों को भोजन तथा वासस्थान देता था। वस्त्रादि और रात को पढ़ने के लिए तेल का दाम छात्र अपने घर से लाते थे। कभी कभी उनको दयालु नगर वासियों के घर निमन्त्रण या आगन्तुक सज्जनों के धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर वस्त्र या रजत-खण्ड मिल जाता था। अधिकांश छात्र दरिद्र थे। दारिद्र्य के कष्ट झेलते हुए भी वे अपने को नवद्वीप के इस महान् विद्वत्-समाज के अङ्गीभूत समझ कर गर्व अनुभव करते थे, और भविष्य-जीवन में इस काल की स्मृति उनके लिए सुखदायक होती थी।

इसी वातावरण में भगवान् श्रीकृष्ण-चैतन्यदेव का जन्म हुआ था और इसी वायुमण्डल में वे पालित तथा शिक्षित हुए थे। पण्डित गङ्गादास के टोल (पाठशाला) में प्रविष्ट होकर निमाई (श्रीचैतन्यदेव) ने व्याकरण की पढ़ाई आरम्भ की थी।

व्याकरण समाप्त कर उन्होंने न्यायशास्त्र पढ़ने के लिए वासुदेव सार्वभौम के टोल में प्रवेश किया था। उस समय रघुनाथशिरोमणि जिन्होंने पीछे मिथिला का गर्व खर्व किया था, इस चतुष्पाठी के प्रधान छात्र थे। किन्तु इस बालक निमाई की सर्वतोमुखी प्रतिभा के सामने उनकी असाधारण प्रतिभा भी म्लान सी हो गई थी।

बीस बरस की अवस्था में निमाई ने अध्यापन के लिए एक चतुष्पाठी खोल दी। शीघ्र ही इस तरुण अध्यापक के पाण्डित्य और प्रतिभा की ख्याति चारों ओर फैल गई, और थोड़े ही समय में उनका टोल छात्रों से भर गया।

इसी समय एक दिग्विजयी पण्डित नवद्वीप में पधारे थे। उनकी कल्पना थी कि नवद्वीप का यशोहरण कर वे विद्याराज्य में एकच्छत्र अधिपति हों। नवद्वीप के जितने नवीन और प्रवीण अध्यापक थे सब भयभीत हो गये और सोचने लगे कि हाय! नवद्वीप की इतने दिन की प्रतिष्ठा अब जाती रहेगी। दिग्विजयी पण्डित के साथ गङ्गातीर पर निमाई की भेंट हुई। दोनों में शास्त्रार्थ हुआ और दिग्विजयीजी हार कर भागे। निमाई के द्वारा नवद्वीप की मर्यादा की रक्षा हुई। अब से निमाई नवद्वीप के प्रधान पण्डितों में गिने जाने लगे।

इन तरुण अध्यापक की अनन्यसाधारण प्रतिभा देख कर जब नवद्वीप की पण्डित-मण्डली चकित हो रही थी तब उन्होंने सहसा एक दिन धर्माचरण में मनोनिवेश किया। बहुत श्रद्धा के साथ श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थ पढ़ने में और भक्त साधु-सज्जनों के साथ भक्ति-विषयक आलाप में वे कालातिपात करने लगे। धीरे धीरे उनमें प्रेमोन्मद के लक्षण दिखाई दिये। जब कभी वे चतुष्पाठी में छात्रों को पाठ देते थे तब व्याकरण वा तर्कशास्त्र के सूत्र समझाने में भी अपनी प्रेम से रँगी व्याख्या

देने लगे। कुछ समय के बाद छात्रों से विदा होकर वे कृष्ण-प्रेम रस में निमज्जित रहने लगे। उनके कुछ छात्रों ने प्रेम-मार्ग का अवलम्बन कर उनका अनुसरण किया। उनको लेकर इन्होंने नाम-भजन आरम्भ किया। यह समाचार नवद्वीप की पण्डित-मण्डली में पहुँचा, और श्रीवासादि भक्तगण इनसे मिलकर नाम-सङ्कीर्तन करने लगे और सभों ने मिलकर एक भक्त-समाज की प्रतिष्ठा की। इस समाज के अधिवेशन श्रीवास के घर में होते थे, इसलिए यह समाज 'श्रीवास-अङ्गन' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तब से भक्तगण श्रीवास-अंङ्गन में निमाई के साथ मिलते थे और नाम-भजन में शामिल होते थे। निशाकाल उच्च कण्ठोत्थित हरि-कीर्तन और उद्दाम नृत्य में कटता था। प्रायः भक्तगण नाम-कीर्तन करते हुए नगर की गलियों में घूमते थे। निमाई का भक्तिभाव देख कर नवद्वीप-नगर के नर-नारीगण विस्मित हो जाते थे।

चार बरस तक नगर के प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार से मोहित कर एक दिन विधवा माता और युवती पत्नी को रोलाकर नवद्वीप से १६ कोस उत्तर भागीरथी-तीरस्थ कटवा नगर में जाकर २४ वर्ष की अवस्था में निमाई ने संन्यास ग्रहण किया और तीर्थ-भ्रमण के लिए चल पड़े। उनका गुरुदत्त नाम था श्रीकृष्ण-चैतन्य, और अब से इसी नाम से अथवा संक्षिप्त चैतन्य महाप्रभु के नाम से उनका उल्लेख होने लगा।

वासुदेव सार्वभौम के मिथिला से लौटने के बाद ही नवद्वीप के मानसिक उन्मेष को एक वेग मिला था, जिसको रघुनाथ-शिरोमणि ने मिथिला के यशोहरण के द्वारा और भी प्रबल कर दिया। चैतन्यदेव की अलौकिक धीशक्ति, चरित्र-माधुर्य और अनन्य-साधारण भक्ति ने परवर्ती प्रगति की बहुत सहायता की। महाप्रभु के प्रवर्तित धर्म ने जातिभेद-प्रथा को शिथिल

कर दिया और रघुनाथ की चिन्ता-प्रसूत नव्य-न्याय ने एक प्रकार से देश को नास्तिकता की ओर झुका दिया। इसके अतिरिक्त मुसलमानों के संस्पर्श से हिन्दू-समाज में उलट-पलट आरम्भ हुआ था? इन अमङ्गलों से बचे रहने के लिए दृढ़ भित्ति पर हिन्दू-समाज का पुनर्गठन, और इसको सिद्ध करने के लिए धर्म-शास्त्र का उपयोगी संस्कार आवश्यक हुआ। इस अभाव को दूर करने के लिए नवद्वीप में इसी समय एक अशेष मनीषा-सम्पन्न सर्वशास्त्रवित् महात्मा का आविर्भाव हुआ, जिनका, नाम था रघुनन्दन स्मार्त-भट्टाचार्य। इनकी प्रदर्शित आचार-पद्धति ने उस समय वङ्गीय हिन्दू-समाज को भावी विप्लव से बचाया। अतएव देखा जाता है कि वासुदेव सार्वभौम के समय से रघुनन्दन भट्टाचार्य के समय तक का युग नवद्वीप का चरम उत्कर्ष का युग था।

इस समय से नवद्वीप में जो वायु-मण्डल गठित हुआ था उसके प्रभाव से यहाँ के शिक्षा-पानेवाले अधिकांश छात्रों तथा उनके अध्यापकों की मानसिक वृत्तियों में एक ऐसी तीक्ष्णता, ओजस्विता और यशोलिप्सा आ गई थी जिसके कारण वे अपनी अपनी चिन्ता-धारा को नये नये खातों में प्रवाहित करने को उत्सुक हुए। नैयायिकों में यह आग्रह विशेष कर उत्पन्न हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि न्याय-ग्रन्थों की असंख्य टीकायें टिप्पणियाँ, भाष्य, टीका की टीकायें, भाष्य की टीकायें, टिप्पणी की टिप्पणियाँ बनने लगीं। ग्रन्थकारों ने अपने अपने ग्रन्थों में नये नये तथ्यों का भी समावेश किया। अधिक धीशक्ति-सम्पन्न पण्डितों ने मौलिक पुस्तकें भी लिखीं, जैसे तर्कसङ्ग्रह, भाषा-परिच्छेद, सिद्धान्त-मुक्तावली, शब्द-शक्ति-प्रकाशिका इत्यादि। यह विराट् ग्रन्थरचना-कार्य कई पीढ़ियों तक चलता गया, और अन्त में एक विस्मयकर अति दुरूह शास्त्र पूर्णतया गठित हुआ,

जिसका नाम है नव्य-न्याय वा तर्क-शास्त्र। यह बंगालियों की तीक्ष्ण बुद्धि का परिचायक है।

गङ्गेश उपाध्यायकृत तत्त्व-चिन्तामणि ग्रन्थ चार खण्डों में विभक्त है—प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्द। नव्य-न्याय ने मान लिया है कि मनुष्य के ज्ञान को केवल इन्हीं चार उपायों से निश्चयता प्राप्त होती है। ये ही चार प्रमाण हैं। जिसके द्वारा वस्तुओं की यथार्थता का अनुभव होता है वही प्रमाण है। चक्षु इत्यादि इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष-ज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर प्राप्त अप्रत्यक्ष विचारसिद्ध ज्ञान को अनुमिति-ज्ञान कहते हैं। सादृश्य से उत्पन्न ज्ञान को उपमिति-ज्ञान कहते हैं। आप्त, अर्थात् विश्वस्त, पुरुष के वाक्यों से शब्द-ज्ञान होता है। नव्य-न्याय में ये ही चार प्रमाण अति विशदता से परिस्फुट किये गये हैं। साथ साथ सम्पर्कित विषयों की भी आलोचना है। एक उदाहरण से नव्य-न्याय का महत्त्व स्पष्ट होगा। चिन्तामणि के अनुमान-खण्ड में तेरह प्रकरण हैं। उनमें से द्वितीय प्रकरण के सात परिच्छेदों में "व्याप्ति" (Induction) के सूत्र हैं। इस द्वितीय प्रकरण के प्रथम परिच्छेद-मात्र का अवलम्बन कर रघुनाथशिरोमणि ने अपनी 'दीधिति' नामक टीका और मथुरानाथ तर्कवागीश ने 'रहस्य' नामक टीका लिखी है। इस न्याय-शास्त्रांश को 'व्याप्ति-पञ्चक' कहते हैं। 'व्याप्ति-पञ्चक' पर अनेक पण्डितों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। एक 'व्याप्ति' पर ही इतने ग्रन्थ लिखे गये हैं कि उनसे एक छोटी सी कोठरी भर जा सकती है। संवत् ११६५ में मिथिला में गङ्गेश का आविर्भाव हुआ था। नव्य-न्याय गौतम के न्याय-दर्शन और कणाद के वैशेषिक-दर्शन पर प्रतिष्ठित है।

प्राचीन काल से नव्य-न्याय का विकास जिस क्रम से हुआ था, वह यह है—पहले व्योमशिवाचार्य ने 'सप्तपदार्थी' लिखी

उसके बाद इस विषय के लेखक क्रम से ये हैं—श्रीधर, उदयन, वल्लभ, मिथिला के गङ्गेश, वर्धमान, यज्ञपति, पक्षधर, वासुदेव, रुचिदत्त, महेशठाकुर, और नवद्वीप के वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथ,, मथुरानाथ, भवानन्द, जगदीश, गदाधर इत्यादि पण्डितवर्ग। व्योमशिव का आविर्भाव-काल विक्रम की चतुर्थ शताब्दी से लेकर सप्तम शताब्दी के भीतर हुआ था। गङ्गेश की तत्त्वचिन्तामणि ही परवर्ती लेखकों की मूलभित्ति है।

नव्य-न्याय की प्रधान विशिष्टता यह है कि इसमें सात पदार्थ स्वीकार किये गये हैं। इसमें कणाद के वैशेषिक दर्शन के छः पदार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, और एक अतिरिक्त पदार्थ अभाव मान लिये गये हैं। नव्य-न्याय के प्राचीन लेखकों ने, खास कर गङ्गेश ने, जिन विषयों का इङ्गितमात्र किया है, नवद्वीप के नैयायिकों ने उनका, जहाँ तक सम्भव वहाँ तक, विश्लेषण कर एक एक विषय पर असंख्य पुस्तकें लिख के इस शास्त्र की पूर्णता सम्पादन की है। मिथिला में भी नव्य-न्याय-राज्य का ऐश्वर्य थोड़ा सुरक्षित न हुआ था।

दीर्घ काल पहले से ही नवद्वीप में न्याय-चर्चा के रहते हुए भी रघुनाथ ने ही न्याय-शास्त्र में नवद्वीप का प्राधान्य स्थापित किया था, और उनके समय यहाँ वही प्रधान नैयायिक माने जाते थे। तब से नवद्वीप के नैयायिक समाज में प्रधान नैयायिक की मृत्यु के बाद यहाँ के सबसे विद्वान् अध्यापक ही प्रधान के पद पर निर्वाचित होते आये हैं। रघुनाथ के बाद उनके वंश के कोई न कोई इस राज्य पर आधिपत्य करते गये। रघुनाथ के पुत्र का नाम था रामभद्र सार्वभौम।

जगदीश तर्कालङ्कार प्रसिद्ध 'शब्द-शक्ति-प्रकाशिका,' 'तर्कामृत' इत्यादि ग्रन्थों के रचयिता हैं। रामभद्र सिद्धान्त-वागीश ने शब्द-शक्ति-प्रकाशिका की टीका लिखी है।

गदाधर भट्टाचार्य और जगदीश तर्कालङ्कार समसामयिक थे। इन दोनों ने रघुनाथ की दीधिति पर टीका लिखकर मानव-बुद्धि की शेष सीमा दिखाई है। अब तो 'नव्य-न्याय' नाम से लोग साधारणतः गङ्गेश की चिन्तामणि, उस पर रघुनाथ और मथुरानाथ की टीकायें और रघुनाथ की दीधिति पर जगदीश और गदाधर की टीकायें इत्यादि समझते हैं। गदाधर के ग्रन्थों के नाम हैं—'चिन्तामणि-आलोक' की टीका, 'बौद्धाधिकार,' 'नानार्थवाद,' 'नव्य मतवादार्थ,' 'रत्नकोष-पदार्थ,' 'उपसर्ग-विचार,' 'सादृश्यवाद,' 'प्रथमा व्युत्पत्ति,' 'अनुकरण-विचार' इत्यादि। ये सब ग्रन्थ अभी तक आदृत होते हैं।

विक्रम की अष्टादश शताब्दी के प्रारम्भ से कृष्णनगर राजवंश से (पहला लेख देखिए) नवद्वीप की पण्डित-मण्डली को सहायता मिलने लगी थी। महाराजा रामकृष्ण ने यहाँ के पण्डितों को भारी आमदनी की भू-सम्पत्ति दी थी। महाराज कृष्णचन्द्र भी इनके पोषक थे। उनके समय में हरिराम तर्कसिद्धान्त नवद्वीप के प्रधान नैयायिक थे। महाराज-कृष्णचन्द्र के पुत्र महाराज शिवचन्द्र के समय शङ्कर तर्कवागीश नवद्वीप के प्रधान नैयायिक हुए थे। उनके पुत्र शिवनाथ वाचस्पति को भी यह पद मिला था। शिवनाथ के बाद क्रम से काशीनाथ चूड़ामणि, दण्डी, श्रीरामशिरोमणि, 'सामान्य-लक्षण-व्याख्या'-प्रणेता हरमोहन चूड़ामणि, महामहोपाध्याय भुवनमोहन विद्यारत्न, महामहोपाध्याय राजकृष्ण तर्कपञ्चानन, महामहोपाध्याय कामाख्यानाथ तर्कवागीश हुए।

स्थानाभाव के कारण अन्यान्य नैयायिकों के नाम और उनके ग्रन्थों का परिचय नहीं दिये गये।

(२) स्मृति-शास्त्र

नवद्वीप ने पूर्ववर्ती कई एक शताब्दियों में न्याय-शास्त्र में जिस

प्रकार उन्नति कर विक्रम की षोडश शताब्दी में भारतवर्ष का शीर्षस्थान अधिकार किया था, उसी प्रकार स्मृतिशास्त्र की चर्चा तथा संस्कार के द्वारा भी अपना प्राधान्य स्थापित करने को समर्थ हुआ था। स्मृति-शास्त्र का दूसरा नाम है धर्म-शास्त्र। इस शब्द में 'धर्म' का अर्थ है क़ानून (Law), व्यवहार, आचार। धर्माधिकरण का अर्थ है अदालत, और धर्माधिकरणिक वा धर्माध्यक्ष का अर्थ है न्याय करने वाला वा विचार करनेवाला जज। धर्मशास्त्र में प्रायश्चित्त, उत्तराधिकार इत्यादि के नियम रहते हैं। दायभाग, मिताक्षरा इत्यादि धर्म-शास्त्र के अन्तर्गत हैं। स्मृति-शास्त्र भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न ऋषियों*के द्वारा अपने अपने समयों के समाल-बन्धल के निमित्त सङ्ग्रहीत हुआ था। अनेक विषयों में ऋषियों के मतों में भिन्नता पाई जाती है, क्योंकि वे भिन्न भिन्न समय के उपयोगी बनाये गये थे। इस कारण कौन मत ग्रहणयोग्य है, वह निरूपण करने के निमित्त समय समय पर तीक्ष्णधी पण्डितों ने मीमांसा-शास्त्र का प्रणयन किया है। इन मीमांसकों में जैमिनि, मेधातिथि, कुल्लूकभट्ट, जीमूतवाहन, मिश्र वाचस्पति, श्रीनाथ आचार्य-चूड़ामणि और रघुनन्दन भट्टाचार्य प्रधान हैं। इनमें कुल्लूकभट्ट, श्रीनाथ आचार्य-चूड़ामणि और रघुनन्दन भट्टाचार्य वंगाली थे। कुल्लूकभट्ट विक्रम की चतुर्दश शताब्दी में जीवित थे और उन्होंने मनुसंहिता की 'मन्वर्थ-मुक्तावली' नामक टीका लिखी है। श्रीनाथ विक्रम की पञ्चदश शताब्दी के प्रथमार्ध में नवद्वीप में रहते थे। इन्हीं के समय से नवद्वीप में स्मृतिशास्त्र-चर्चा का विकास हुआ था।

---

*मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः।
यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनो बृहस्पतिः॥
पराशरव्यासशङ्खो लिखिता दक्षगोतमौ।
शातातपो वशिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः॥

रघुनन्दन भट्टाचार्य विक्रम की षोडश शताब्दी के मध्य और शेष भाग में नवद्वीप में विद्यमान थे और इन्हीं के द्वारा स्मृति-शास्त्र में नवद्वीप का प्राधान्य स्थापित हुआ था। इनका कुछ विवरण नव्य-न्याय के प्रसंग में दिया गया है।

महाप्रभु के प्रवर्तित धर्म के कारण जातिभेद शिथिल हो रहा था। नव्य-न्याय के अध्ययन से पण्डितों की केवल तर्कशक्ति की पुष्टि हो रही थी, न्याय-दर्शन का जो मुख्य उद्देश है—नास्तिकता-निरसन और ईश्वर-सिद्धि—उस पर उनका ध्यान बिलकुल न था, क्योंकि वे प्राचीन न्याय की ईश्वर-प्रतिपादन-मूलक कुसुमाञ्जलि इत्यादि ग्रन्थों की सम्यक् आलोचना नहीं करते थे, अतएव एक प्रकार से वे नास्तिकता की ओर झुके जा रहे थे। मुसलमानों के शासन और संस्पर्श से हिन्दू-समाज की रीतिनीति, आचार-व्यवहार नाना प्रकार से विपर्यस्त हो रहे थे। निम्नस्तर की हिन्दू-जनता ने, जो धार्मिक अधिकारों से वञ्चित होती आई थी, जब देखा कि ईश्वर में मुसलमानों का ज्वलन्त विश्वास है और मुसलमान हो जाने से उनको दूसरे मुसलमानों के समान धार्मिक और सामाजिक अधिकार मिल सकता है, तब उन्होंने मुसलमान-धर्म ग्रहण करना शुरू किया। तन्त्र-शास्त्र के वामाचार, वीरचार इत्यादि मतों के प्रचार से कुछ लोग यथेच्छाचारी, व्यभिचारी, सुरापायी हो गये थे। हिन्दुओं के इस सङ्कट की अवस्था में उनके समाज का संस्कार आवश्यक हुआ। समाज के दृढ़ीकरण और तत्-कालोचित पुनर्गठन के लिए कुशाग्रधी सर्वशास्त्रवेत्ता रघुनन्दन भट्टाचार्य अग्रसर हुए। रघुनन्दन ने वेद, उपनिषद्, गृह्यसूत्रादि और समग्र स्मृतिशास्त्र आलोडन करके देखा कि उस समय की सामाजिक अवस्था में ऋषिगण-प्रवर्तित सब विधियों का ठीक ठीक पालन नहीं हो सकता। अतएव उन्होंने प्रयोजन के अनुसार

कठोर विधियों को कुछ शिथिल और मृदु विधियों को कुछ तीव्र करके अपने ग्रन्थ की देश-कालोपयोगी करके रचना की। प्रत्येक विधि के साथ सुचिन्तित तथा अकाट्य युक्तियाँ दी गईं, और वेद, उपनिषद्, धर्मसूत्र इत्यादि से अकाट्य प्रमाण उद्धृत किये गये। इस प्रकार समग्र स्मृति-शास्त्र के संस्कार के बाद उन्होंने समग्र भारतवर्ष की यात्रा कर सब स्थानों के प्रसिद्ध अध्यापकों के साथ शास्त्रार्थ के द्वारा अपना मत प्रतिष्ठित किया। उस समय के हिन्दू-समाज में रघुनन्दन को सर्वोच्च स्थान मिला था। सत्तर बरस की आयु में उनका देहान्त हुआ था। इसके बाद उनके ग्रन्थादि, और स्मृति-शास्त्र के अन्यान्य ग्रंथ, पढ़कर बहुत परिडत स्थान स्थान पर चतुष्पाठियाँ खोल कर छात्र पढ़ाने लगे और लोगों को शास्त्रीय विधियाँ बताने लगे, जिससे समाज का भारी उपकार हुआ।

नवद्वीप के प्रधान स्मार्त-अध्यापकों का सिलसिला यह था (षोड़श शताब्दी में) रघुनन्दन भट्टाचार्य, श्रीकृष्णसार्वभौम, गोपाल न्यायालङ्कार, (अष्टादश शताब्दी में) श्रीकृष्ण तर्कालङ्कार, चन्द्रशेखर वाचस्पति; वीरेश्वर न्यायपञ्चानन, रामानन्द वाचस्पति; (ऊनविंश शताब्दी में) कृष्णकान्त विद्यावागीश, लक्ष्मीकान्त न्याय-भूषण, व्रजनाथ विद्यारत्न, मथुरानाथ पदरत्न; (वर्तमान शताब्दी में) लालमोहन विद्यावागीश, शिवनाथ वाचस्पति, महामहोपाध्याय कृष्णनाथ न्यायपञ्चानन। इन सभों के लिखित ग्रन्थों के नाम लिखने से लेख बढ़ जायगा, अतएव नहीं लिखे गये।

(३) ज्योतिष

नवद्वीप में ज्योतिष की पढ़ाई भी कुछ कुछ होती है। सप्तदश शताब्दी के पूर्वभाग में हृदयानन्द विद्यार्णव इस विषय में बहुत प्रसिद्ध हुए थे। उनका 'ज्योतिष-सारसङ्ग्रह' प्रसिद्ध ग्रन्थ

है। उनकी वंश-परम्परा यह है—विष्णुदास ज्योतिर्विद्, रामरुद्र विद्यानिधि (ये बड़े भारी विद्वान थे), रामकृष्ण विद्यानिधि, प्राणनाथ विद्याभूषण (सर्वशास्त्रवित्), रामजय शिरोमणि, श्रीदाम विद्याभूषण, तारिणीचरण विद्यावागीश, दुर्गादास विद्यारत्न।

नवद्वीप में और भी तीन प्रसिद्ध ज्योतिषी-वंश हैं। उनमें से एक के आदिपुरुष कमलाकर ज्योतिषी थे, जो बड़े भारी पण्डित थे। इसी वंश में (कलकत्ता संस्कृत कॉलेज के प्रिन्सिपाल) महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम० ए०, पी० एच० डी० उत्पन्न हुए थे। यहाँ के ज्योतिषी लोग ग्रहाचार्य-ब्राह्मण कहे जाते हैं। ब्राह्मणों से इनका दर्जा कुछ नीचा है।

(४) तन्त्र-शास्त्र

बौद्धों की अवनति के समय में ही तन्त्रमत की पुष्टि हुई थी। मुसलमानों के अधिकार में आने पर बङ्गदेश हिन्दू-शासन-च्युत होकर धीरे धीरे अवनति की ओर जा रहा था। बहुत लोग यथेच्छाचारी, सुरासक्त, व्यभिचारी हो गये थे और तान्त्रिक मत के प्रचार का यही परिणाम हुआ। तन्त्र में मारण, उच्चाटन, वशीकरण इत्यादि क्रियाओं की प्रशंसा रहने के कारण दुर्बलचित्त वासना-चालित बहुत लोग तन्त्रमतावलम्बी हुए थे। नवद्वीप से ही उक्त मत का प्रचार आरम्भ हुआ था। तान्त्रिक गुरु-गण मन्त्र-सिद्ध होकर लोगों के पास प्रसिद्धि पाते थे। यह देख कर बहुतों को सिद्ध होने की वासना जाग उठी थी। पञ्च-मकार (१) उस समय ग्राम ग्राम में आधिपत्य करने लगे थे और देश ने एक वीभत्स आकार धारण किया था।

इस भयङ्कर स्रोत को बाधा पहुँचाने के लिए षोडश शताब्दी

(१) मत्स्य, मांस, मद्य, मैथुन, मुद्रा (चाट)।

के प्रथम पाद में एक महापुरुष का आविर्भाव हुआ था। उनका नाम था कृष्णानन्द आगमवागीश। कृष्णानन्द ने ही पहले पहल तन्त्रोक्त देवियों की मूर्त्ति-पूजा प्रवर्तित की थी। आज-कल जो काली-मूर्ति देखी जाती है वह उन्हीं की प्रकाशित है। वामाचारी इत्यादि का यथेच्छाचार बंद करने के लिए उन्होंने 'तन्त्रसार' नामक एक बड़े ग्रन्थ का सङ्कलन किया था। तन्त्र की दुहाई से जो सब निष्ठुरता, अनाचार जारी थे, वे इस ग्रन्थ के प्रकाशन के बाद से बहु परिमाण से निवृत्त हो गये थे।

कृष्णानन्द के पौत्र गोपाल 'तन्त्र-दीपिका' के लेखक हैं। साधक रामेश्वर ने 'तन्त्र-प्रमोदन' ग्रन्थ लिखा था और उनके सहोदर रघुमणि ने 'आगमसार'।

(५) नवद्वीप में आज-कल संस्कृत-शिक्षा की अवस्था

आज-कल न्याय-शास्त्र का पढ़ना बहुत ही घट गया है, क्योंकि इससे अर्थागम नहीं होता। जिन लोगों को अँगरेज़ी पढ़ने की सुविधा नहीं है, वे यदि संस्कृत पढ़ना चाहें तो उनमें अधिकांश काव्य-व्याकरण पढ़ते हैं, और काव्यतीर्थ तथा व्याकरणतीर्थ की परीक्षा पास कर स्कूलों में संस्कृत के शिक्षक होते हैं (यदि उन्हें यह पद मिलने का सौभाग्य हो तो)। जो पुरोहित होना चाहते हैं, वे कुछ काव्य-व्याकरण पढ़कर 'पुरोहित-दर्पण' इत्यादि ग्रन्थ पढ़ते हैं। जिन्हें धर्मशास्त्र की विधियाँ बताना है, वे व्याकरणादि पढ़ने के बाद स्मृति-शास्त्र पढ़ते हैं, कोई कोई कुछ ज्योतिष भी सीख लेते हैं। जो मन्त्रदाता गुरु हैं, वे काव्यादि सीखने के बाद कुछ तन्त्रादि की चर्चा भी करते हैं। ज्योतिषी लोग व्याकरणादि की शिक्षा के बाद ज्योतिष का अध्ययन करते हैं। जो पौराणिक कथा सुनाते हैं वे व्याकरणादि पढ़ने के

वाद वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, हरिवंश, विष्णुपुराण इत्यादि ग्रन्थ पढ़ते हैं। थोड़े ही लोग न्याय-शास्त्र का अध्ययन करते हैं।

अब नवद्वीप की १० चतुष्पाठियों में लगभग १०० छात्र स्मृति-शास्त्र, ३ चतुष्पाठियों में १५-२० छात्र न्याय-शास्त्र और १ चतुष्पाठी में २-३ छात्र वेदान्त-शास्त्र पढ़ते हैं। काव्य, व्याकरण पढ़नेवाले छात्र बहुत हैं, और ये इन्हीं चतुष्पाठियों के अध्यापकों से पाठ लेते हैं। पुराण, भागवत, भक्ति-शास्त्र तथा ज्योतिष की विशेष चतुष्पाठियाँ नहीं हैं, परन्तु इन विषयों के शिक्षार्थिगण यदि चाहें तो किसी न किसी अध्यापक से सहायता पा सकते हैं। नदिया में संस्कृत के पठन-पाठन का अब ऐसा ही हाल है।

वैष्णव धर्म की उत्पत्ति और विकास (१)

कहते हैं, भगवान् तीन उपायों से पाये जा सकते हैं—कर्म से, ज्ञान से या भक्ति से। गंतव्य स्थान एक ही है, किन्तु साधक अपनी रुचि के अनुसार तीन मार्गों में से एक को चुन लेता है। कोई निरंतर याग-यज्ञादि करके भगवान् को प्रसन्न करना चाहता है, कोई भगवान् के स्वरूप तथा सृष्टि-रहस्य के चिंतन से उनको प्राप्त करना चाहता है, और कोई अपने को भगवान् का जन समझ कर प्रेम के द्वारा उनके निकट पहुँचना चाहता है।

वैष्णव धर्म प्रेम और भक्ति का धर्म है। इस धर्म में भगवान् का नाम है विष्णु, और इसलिए यह वैष्णव धर्म कहलाता है। वैष्णव लोग विष्णु को भगवान्, नारायण, हरि इत्यादि भी कहते हैं। उनका कथन है कि विष्णु अज तथा शाश्वत हैं, और विश्व

के स्रष्टा हैं। जगत् पाप-भाराक्रांत होने से धार्मिकों की रक्षा के लिये भगवान् किसी रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण होते हैं। उनके मुख्य अवतार हैं दाशरथी राम और वासुदेव कृष्ण।

विष्णु की आराधना वैदिक युग से चली आ रही है। आर्य ऋषियों का विश्वास था कि देवतों के द्वारा यह विश्व अधिष्ठित है। ऋषिगण सर्वत्र देवतों के माहात्म्य का अनुभव करते थे। उन्हें जिन नैसर्गिक शक्तियों का प्रत्यक्ष वा अनुमान होता था, वे उन्हें देवतों के रूप में हृदयंगम कर उन्हें समग्र ब्राह्मांड या उसके एकांश का अधिष्ठाता समझते थे। इसलिये वेद का धर्म पहले बहुदेव-वाद था। तब देवतों की संख्या ३३ थी—११ द्युलोक के, ११ अंतरिक्ष के और ११ पृथ्वी के।

ऋग्वेद में जिन देवतों का वर्णन है, उनमें विष्णु एक प्रधान देवता थे। वह सूर्य के एक स्वरूप माने जाते थे। 'विष्णु'-शब्द की उत्पत्ति 'विश्'-धातु से है 'विष्णु'-शब्द का अर्थ है प्रवेश या व्याप्ति। जो समग्र जगत् में प्रविष्ट या व्याप्त हैं, वही विष्णु हैं। "त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा" (ऋक् १, २२, १८) इस मंत्र से संभवतः सूर्य का उदय, मध्याह्न और अस्त सूचित होते हैं। दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्त की टीका में भी ऐसा ही आभास दिया है (निरुक्त २१, २)। "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधाच निदधे पदं समूढमस्य पांशुरे" (ऋक् १, २, ७२,) का अर्थ है—विष्णु ने तीन पाद-विक्षेप के द्वारा समग्र जगत् का विचरण किया था, और यह जगत् उनकी पद-धूलि में अवस्थित है। शतपथ ब्राह्मण (२, ३, ५, ४-५) में मिलता है कि देवगण के असुरों के निकट पृथ्वी का अंश माँगने पर असुरों ने कहा कि विष्णु अपने शरीर के द्वारा जितना स्थान व्याप्त कर सकेंगे, उतना ही देवतों को मिलेगा। इस पर विष्णु ने प्रथम पाद-विक्षेप के द्वारा पृथ्वी को, द्वितीय से अंतरिक्ष को और तृतीय से

आकाश को नाप लिया था। कदाचित् वामन अवतार के पौराणिक आख्यान की उत्पत्ति इसी से हो। शतपथ ब्राह्मण १, २, ५ में विष्णु का वामन नाम पाया जाता है। विष्णु ने तीन पाद विक्षेपों द्वारा तीनों लोक का अधिकार किया था, इसलिये उनका एक नाम है त्रिविक्रम। ऋग्वेद (६, ६६ और ७, ६६) में वह जगत्-स्वामी कहे गये हैं, और उनका महत्त्व कल्पनातीत बताया गया है।

नारायण का नाम सबसे पहले शतपथ ब्राह्मण में मिलता है, किंतु विष्णु से उस नाम का संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। तैत्तिरीय आरण्यक में दोनों का संबंध दृष्टिगोचर होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु को देवतों में सर्वोच्च स्थान दिया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक (१०-११) में नारायण सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर के समस्त ऐश्वर्य प्राप्त कर उपनिषद् के ब्रह्मस्थानीय हो गए हैं। छांदोग्य उपनिषद् (१, ६, ६) में सूर्य-मंडलवर्ती एक पुरुष का उल्लेख है। शंकराचार्य कहते हैं, इन्हीं के द्वारा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का निर्देश हो रहा है। हिंदू-गृहों में जिन शालग्राम-शिला की उपासना होती है, वह यही सवितृमंडल-मध्यवर्ती हिरण्मय-वपु पुरुष हैं। विष्णु का चक्र सूर्य के इसी गोलाकार परिधि का सूचक है। गायत्री-उपासना सूर्य के तेज की उपासना के सिवा और कुछ नहीं।

मनु कहते हैं, ईश्वर की प्रथम सृष्टि जल है (१, १०)। "आप एव ससर्जादौ।" इस कारण-वारि का नाम है नारा। इस कारण-वारि को आश्रय कर ईश्वर रहते हैं, इसलिये उनका नाम नारायण है —

"आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ;
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।"

शांतिपर्व के नारायणीय अध्याय में मिलता है कि नारद बदरिकाश्रम में नर तथा नारायण के दर्शनों के लिए गये थे। नर अर्जुन हैं, और नारायण कृष्ण, ऐसा भी विवरण पाया जाता है। नर, नारायण, हरि और कृष्ण भगवान् के ये चार नाम पीछे निर्दिष्ट हुए हैं। तैत्तिरीय आरण्यक (१०, ११) में हरि, अच्युत, आत्मा, अक्षर इत्यादि शब्द नारायण के विशेषण के समान व्यवहृत हुए हैं। अतएव ब्राह्मण-युग के नारायण को ही पीछे वासुदेव, कृष्ण, हरि इत्यादि नाम मिले हैं।

वेदों तथा ब्राह्मण-ग्रंथों की विष्णु-आराधना यज्ञ-मूलक थी, भक्ति-मूलक न थी। वैष्णवों का धर्म भक्ति-मूलक है। वैष्णव लोग विष्णु को प्रेम और करुणा का आधार समझ कर उनसे प्रेम का संबंध स्थापित करते हैं। वैदिक धर्म में जीवात्मा और परमात्मा के भीतर हृदय का संबंध विरल है। वैष्णव भक्ति-भाव का एक क्षीण निदर्शन वरुण की स्तुतियों में मिलता है, विष्णु की स्तुतियों में नहीं। ऋग्वेद (६, ३२,५) में यह वाक्यांश मिलता है — "योषा जारमिव प्रियम्।" इसका अर्थ यह है कि ईश्वर के प्रति मनुष्य के प्रेम का आवेग परकीया नारी के उपपति के प्रति प्रेम के आवेग के समान होना चाहिये।

पद्म-तंत्र में भागवत (संप्रदाय) के प्रतिशब्द यों दिये गये हैं —

"सुरिः सुहृद् भागवतः सात्वतः पञ्चकालवित्। एकान्तिकस्तन्मयश्च पञ्चरात्रिक इत्यपि।"

महाभारत के शांतिपर्व के नारायणीय अध्याय में भागवत, सात्वत, एकांतिक वा पंचरात्र धर्म का उल्लेख है —

"यदा भागवतोऽत्यर्थमासीद्राजा महान् वसु।"

(म० १२,३३७,१)

सात्वतं विधिमास्थाय प्राक् सूर्यमुखनिःसृतम् ।"
(म० १२,३३९,१९)

"नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः ।"
(म० १२ ३४८,४)

'पञ्चरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मनः ।"
(म० १२,३३९,२९)

महाभारत के अनुसार (१२,३४६,११) नारद को स्वयं नारायण से यह धर्म मिला था। अन्यत्र वैशंपायन कहते हैं कि परमाराध्य भगवान् ने भगवद्गीता में अर्जुन को इसकी शिक्षा दी थी। (म० १२,३४८,६)

श्रीमद्भगवद्गीता व महाभारत के नारायणीय अध्याय का रचना-काल अनिश्चित है, किंतु ईस्वी सन् के बहुत पहले भक्ति व भागवत धर्म की विद्यमानता का परिचय शिलालेखों से मिलता है। खीष्ट पूर्व द्वितीय शताब्दी के बेसनगर के (लूडर नं० ६६७) शिलालेख से विदित होता है कि ग्रीक राजा आंतालकिदस के दूत हेलियोदोरस ने, जो भागवत धर्मावलंबी थे, वासुदेव की प्रीति के लिये, गरुड़ की मूर्ति-संयुक्त एक ध्वजास्तंभ स्थापित किया था। इससे पहले के उत्कीर्ण राजपूताना के उदयपुर-प्रांत के घसुंडी के लेख से विदित होता है कि संकर्षण तथा वासुदेव की पूजा के उद्देश्य से एक पाषाणमय प्राचार (लूडर नं० ६) निर्मित हुआ था। खी० पू० प्रथम शताब्दी के नानाघाट के शिलालेख (लूडर नं० ११९२) में संकर्षण तथा वासुदेव की स्तुति खोदित पायी जाती है।

इन शिलालेखों से स्पष्ट जाना जाता है कि भागवतगण वासुदेव के भक्त थे। इस सिद्धांत की सहायता से हम पाणिनि के समय इस संप्रदाय की विद्यमानता का प्रमाण उपस्थित करें

सकते हैं। पाणिनि के ४३-९५ तथा ४३,४८ सूत्रों में "वासुदेवक" पद मिलता है, और "जिस मनुष्य की आराधना की वस्तु वासुदेव है", ऐसा अर्थ इस पद का लगाया जा सकता है।

भागवत धर्म की प्राचीनता प्रमाणित करने के लिये पाणिनि के काल का निर्णय करना अत्यावश्यक है। इस विषय में जो विवाद तथा तर्क हैं, उनका उल्लेख नहीं करना चाहता हूँ, केवल पंडितों के सिद्धांतों का सारांश नीचे देता हूँ —

कात्यायन ने पाणिनि-सूत्रों के वार्तिक लिखे थे, और पतंजलि ने उनके भाष्य। कात्यायन पतंजलि के पूर्ववर्ती थे, और पाणिनि कात्यायन के। पतंजलि का समय खी० पू० द्वितीय शताब्दी माना गया है, और कात्यायन का चतुर्थ। पाणिनि में ब्राह्मण-ग्रंथों, कल्प-सूत्रों तथा महाभारत का उल्लेख है। ब्राह्मण-ग्रंथों में महाभारत का उल्लेख नहीं मिलता, केवल गृह्य सूत्रों में मिलता है। अतएव पाणिनि ब्राह्मण-ग्रंथों, कल्प-सूत्रों तथा महाभारत के परवर्ती थे। महाभारत ब्राह्मण-ग्रंथों का परवर्ती है, किंतु सूत्र-युग का मध्यवर्ती। इसी काल में पाणिनि का आविर्भाव हुआ था, ऐसा माना जा सकता है।

बहुत संभव है, पाणिनि खी० पू० षष्ठ शताब्दी में जीवित थे, और उनके व्याकरण में भागवत (वासु-देवक) संप्रदाय का उल्लेख है। अतएव हम इस सिद्धांत पर उपनीत हो सकते हैं कि खी० पू० षष्ठ शताब्दी में भी भारतवर्ष में भक्ति-धर्म प्रचलित था।

अब देखना चाहिये कि वासुदेव इस धर्म के देवता कैसे हुए। वासुदेव का नाम वैदिक साहित्य में, अर्थात् संहिताओं, ब्राह्मणों या प्रतिष्ठित उप-निषदों में, कहीं नहीं मिलता, केवल पीछे के तैत्तिरीय आरण्यक के दशम प्रपाठक में पाया जाता है। यथा

—"नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि, तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ।"

भगवद्गीता में कहा गया है कि वासुदेव वृष्णि-वंश में उत्पन्न हुए थे, यथा—"वृष्णीनां वासु-देवोस्मि, पाण्डवानां धनञ्जयः ।" वृष्णियों का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी (४,७,११४) में, कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र (शामशास्त्री) में, तैत्तिरीय संहिता (३, ११, ९) में, तैत्तिरीय ब्राह्मण (३,१०,१५) में, शतपथ ब्राह्मण (३,१०,१५) में, शतपथ ब्राह्मण (१,११,४) में और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मणों (१, ६, १,) में मिलता है। पालि घत-जातक में बौद्ध आकार में वासुदेव का आख्यान मिलता है। इन ग्रंथों से अनुमान होता है कि वासुदेव वृष्णि-वंश-संभूत थे। जैन उत्तराध्यायन (२२वें) सूत्र में पाया जाता है कि वासुदेव क्षत्रिय-वंश में उत्पन्न हुए थे। महाभारत (३,१४,८) में वासुदेव का "वसुदेव का पुत्र" ऐसा अर्थ मिलता है, किंतु किसी-किसी स्थान में इस शब्द का भिन्न अर्थ भी पाया जाता है —

"वसनात् सर्वभूतानां वसुत्वाद् देवयोनितः ;
वासुदेवस्ततो वेद्यो बृहत्वाद् विष्णुरुच्यते ।"

अर्थात्, सर्वभूतों के आश्रय होने के कारण, दीप्ति के कारण, देवताओं के उत्पत्ति-स्थान होने के कारण वह 'वासुदेव' कहलाते हैं, 'और विराटत्व के कारण विष्णु'।

"छादयामि जगद् विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः ;
सर्वभूताधिवासाच्च वासुदेवस्ततो ह्यहम् ।,,
(म० १२,३४१,४१)

अर्थात्, सूर्य होकर मैं अपनी रश्मियों से विश्व को आच्छन्न करता हूँ, और सर्वभूत का वासस्थान हूँ, इसलिये मैं वासुदेव कहलाता हूँ।

महाभारत (१२,३४८,६-८) के अनुसार वासुदेव कृष्ण ने ही पहले सात्वत या भागवत धर्म का प्रचार किया था। भागवत धर्म के लिये 'सात्वत' नाम के प्रयोग से ही अनुमान होता है कि इस धर्म की उत्पत्ति वासुदेव-नामक सात्वत-राज-वंशीय किसी व्यक्ति से हुई थी। खी० पू० पहली तथा दूसरी सदी के शिला लेखों में वासुदेव के नाम के साथ संकर्षण के संयोग से ही उस प्राचीन काल के भागवत धर्मावलंबियों के उपास्य देवता का पता मिलता है।

कृष्ण नाम के कई ऋषि थे, जैसे विश्वकाय के पिता कृष्ण (ऋक् १,११६,२३;१,११७,७); कृष्ण हारीत (ऐतरेय आरण्यक ३,२,६); कृष्ण आंगिरस (कौषीतकी ब्राह्मण २०,९); अंवष्ठ सुश्रोल्लिखित कराह। किंतु वे सब वासुदेव कृष्ण से पृथक् थे। हिंदू, बौद्ध, ग्रीक प्रमाणों से यह साबित होता है।

पतंजलि-भाष्य के एक स्थान में मिलता है कि कृष्ण ने दीर्घ काल पहले कंस को मारा था; दूसरी जगह कहा गया है कि वासुदेव ने कंस को मारा था। अतएव प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल से कृष्ण और वासुदेव एक ही व्यक्ति माने गये हैं। घत-जातक में भी वासुदेव कृष्ण कहलाये हैं।

छांदोग्य उपनिषद् (३,१७,६) में लिखा मिलता है कि देवकी-पुत्र कृष्ण वोर आंगिरस ऋषि के शिष्य थे। क्या यही महभारतोक्त देवकी-पुत्र कृष्ण हैं?

वेद, उपनिषद्, धर्म-शास्त्र, पुराण, महाभारत, रामायण इत्यादि किसी ग्रंथ में कृष्ण-नामक कोई देवता नहीं पाया जाता; केवल इतना ही कहा जा सकता है कि किसी अवतार में—अर्थात् जब भगवान् ने नर-रूप धारण किया था, तब—वह कृष्ण नाम से प्रसिद्ध थे। महाभारत (१,१९०,३३;२९.४६ इत्यादि) में

कृष्ण देवकी-पुत्र कहे गये हैं। उपनिषद् में भी वह देवकी-पुत्र कहे गये हैं। महाभारत के कृष्ण ने शिक्षा दी थी—

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायं तप आर्जवम्।"
(गी० १६,१)

"अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।"
(गी० १६,२)

उपनिषदोक्त कृष्ण ने घोर आंगिरस से सीखा था—

"अथ यत्तपोदानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।"
(छां० ३०३,१७,४)

महाभारत के उद्योगपर्व में श्रीकृष्ण अपना मनुष्यत्व स्वीकार करते हैं, क्योंकि नर-लीला करने के लिये ही भगवान् नर-रूप धारण करते हैं—

" अहं हि तत् करिष्यामि परं पुरुषकारतः;
दैवन्तु न मया शक्यं कर्म कर्तुं कथञ्चन।"
(म० ५,७१,५-६)

अर्थात्, मनुष्य की चेष्टा से जहाँ तक हो सके, मैं करूँगा, जो कुछ दैव है, उस पर मेरी शक्ति नहीं।

अतएव इसमें कोई संदेह नहीं कि उपनिषदुक्त देवकी-पुत्र और महाभारतोक्त देवकी-पुत्र एक ही थे, और मनुष्य थे।

छांदोग्य उपनिषद् में श्रीकृष्ण का उल्लेख है। यह उपनिषद् बुद्धदेव के पहले का है। अतएव श्रीकृष्ण बुद्धदेव के पूर्ववर्ती थे। घत-जातक से भी यह प्रमाणित होता है। बुद्धदेव के पूर्ववर्ती कौषीतकी ब्राह्मण (३०-६) और काठक संहिता (१-१) में श्रीकृष्ण के गुरु घोर आंगिरस का नाम मिलता है। जैन-किंवदंती के अनुसार श्रीकृष्ण २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के

समसामयिक थे। पार्श्वनाथ २३वें तीर्थंकर थे, और खी० पू० ८१७ में जीवित थे। इससे साबित होता है कि श्रीकृष्ण खी० पू० नवम शताब्दी के अंतभाग के पहले जीवित थे।

वृष्णि या सात्वत-वंश का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं है, किंतु ब्राह्मण-ग्रंथों में प्रचुरता से है। इस वंश के उच्छेद का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। महाभारत तथा पुराणों को छोड़कर किसी ग्रंथ में श्रीकृष्ण की जीवनी का वृत्तांत नहीं पाया जाता। यदि श्री कृष्ण के जीवन-चरित की खोज कहीं भी मिलने की संभावना हो, तो निम्न-लिखित ग्रंथों में पाई जा सकती है—

(१) छांदोग्य उपनिषद्।

(२) मेगास्थीनिस की इंडिका और पतंजलि के महाभाष्य में प्रसंगक्रम उल्लेख।

(३) बौद्ध घत-जातक।

(४) महाभारत, हरिवंशपुराण तथा कई सांप्रदायिक उपनिषद्।

(१) उपनिषद्-समूह में एक भी बुद्धदेव का परवर्ती नहीं है, क्योंकि कुछ ऐसे महत्त्व-पूर्ण मत, जो उपनिषदों में पहले पहल पाये गये हैं, बुद्धदेव के उपदेशों में भी मिलते हैं। अंतरंग प्रमाणों के अनुसार उपनिषद्-समूह चार भागों में विभक्त हो सकता है। उनमें जितने प्राचीन हैं, उनका क्रम यह है—बृहदारण्यक, छांदोग्य तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकि। ये गद्य में लिखे हैं और इनकी भाषा ब्राह्मण-ग्रंथों की भाषा के समान बेढंगी है। छांदोग्य उपनिषद् खी० पू० १००० वर्ष से अधिक प्राचीन अनुमान होता है। जब इसमें घोर आंगिरस के शिष्य देवकी-पुत्र कृष्ण का उल्लेख है, तब देवकी-पुत्र खी० पू० १००० वर्ष के पहले के मनुष्य प्रतिपादित होते हैं।

मत्स्य, वायु, ब्रह्मांड, विष्णु तथा भागवत पुराणों में निम्न-लिखित श्लोक पाया जाता है—

यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम् ;
एवं वर्षसहस्रन्तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम् !

इससे मालूम होता है कि अभिमन्यु-पुत्र परीक्षित के जन्म से, अर्थात् कुरुक्षेत्र के महासमर के समय से, नंद राजा के अभिषेक का समय १०१५ वा १०५० वर्ष है। महावंश के अनुसार महापद्म (नंद) का अभिषेक खी० पू० ३४३ में हुआ था। अतएव खी० पू० १४०० वर्ष के लगभग परीक्षित का जन्म हुआ था।

यजुर्वेद की काठक-संहिता में धृतराष्ट्र विचित्रवीर्य का नाम पाया जाता है। यदि महाभारत की घटनावली सत्य मान ली जाय, तो श्रीकृष्ण काठक-संहिता के पूर्ववर्ती थे, और महाभारत के समय जीवित थे।

(२) मेगास्थीनिस की इंडिका खी० पू० चतुर्थ शताब्दी में और पतंजलि का महाभाष्य द्वितीय शताब्दी में लिखे गये थे।

(३) जातकों के अधिकांश खी० पू० तृतीय शताब्दी में लिपिबद्ध हुए थे।

(४) महाभारत के रचना-काल का उल्लेख पहले ही हो चुका है। उसका मुख्य अंश सूत्र-युग में लिखा गया था, इसमें कुछ संदेह नहीं। किंतु उसके ३, १९० में 'एडुक' व बौद्ध चैत्यों के तथा १२, ३३९, ४० में 'बौद्ध-दर्शन' का उल्लेख रहने के कारण अनुमान होता है कि उस ग्रंथ के साथ बुद्धदेव के परवर्ती काल की अनेक रचनाएँ संयोजित हुई हैं। महाभारत में ग्रीक लोगों के उल्लेख से मालूम होता है कि खी० पू० ३०० वर्ष के ग्रीक-आक्रमण के बाद की कुछ रचनाएँ उसमें प्रक्षिप्त हुई हैं।

हरिवंश महाभारत का खिल (परिशिष्ट) अंश है। उसमें ग्रीक 'दीनार' का उल्लेख मिलता है। अतएव उसका भी कुछ अंश ग्रीक-आक्रमण का परवर्ती है।

पुराणों में अंध्र-वंश तक का इतिहास है। अतएव उसके भी अनेक अंश ईस्वी सन् में रचित होना प्रमाणित होता है

अतएव छांदोग्य उपनिषद् ही एकमात्र ग्रंथ है जिससे श्री कृष्ण का काल निर्द्धारित हो सकता है, दूसरे किसी ग्रंथ से नहीं। किंतु हिंदू, जैन तथा बौद्ध किंवदंतियाँ सब मिलकर बताती हैं कि वासुदेव मथुरा के यादव, वृष्णि वा सात्वत-राजवंश में उत्पन्न हुये थे। मेगास्थीनिस के हिराक्लीस के आख्यान से भी यही जाना जाता है। महाभारत से, पुराणों से, जैन-उत्तराध्यायन-सूत्र से, घत-जातक से, स्कंदगुप्त के भीतरी स्तंभ के लेख से प्रमाणित होता है कि श्रीकृष्ण के पिता का नाम था वसुदेव और भाई का नाम बलदेव।

श्रीकृष्ण के बाल्य जीवन का प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलता। संभव है, उन्हें घोर आंगिरस ऋषि से शिक्षा मिली थी। [वही संदीपन मुनि भी कहलाते थे या नहीं, इस विषय की खोज होनी चाहिये।]

बाल्य काल में उनका गोपों के साथ संबंध था या नहीं, इस विषय की कहानियाँ संभवतः वैदिक साहित्य में उल्लिखित विष्णु के विवरणों के आधार पर प्रचलित हुई हैं : ऋग्वेद (१, २२, १८) में विष्णु गोपा नाम से अभिहित हुये हैं। ऋग्वेद (१, १५४, ६) में विष्णुलोक में बहु-शृंग-विशिष्ट गायों का उल्लेख है। ऋग्वेद (१, १५५, ६) में विष्णु शिशु नहीं हैं, किशोर हैं, ऐसा कहा गया है। ऋग्वेद (७, ९८, ५) में विष्णु के द्वारा संबर की पराजय की कहानी है। बोधायन धर्म-सूत्र (२,

५, २४) में विष्णु के गोविंद तथा दामोदर नाम पाये जाते हैं। किंतु वैदिक साहित्य की इन उक्तियों के साथ कृष्ण का संबंध ठहराया नहीं जा सकता। विष्णु-पुराण में आभीर-नामक एक म्लेच्छ-जाति का उल्लेख मिलता है। लोहित सागर के नौ-भ्रमण (Periplus of the Erythrean Sea) से विदित होता है कि ईस्वी प्रथम शताब्दी के पहले ही यह जाति पश्चिम भारत में बस गई थी। शक तथा कुशानों के पहले इस जाति ने दस पीढ़ियों तक सिंधुप्रांत में राज किया था। यह क्रमशः उत्तर भारत में फैली और भारतीय जन-समूह में मिल गई थी। मथुरा-प्रांत इस जाति का केंद्र था। पतंजलि ने भी इसका उल्लेख किया है। ईस्वी सन् के पहले पांड्यराजवंश के साथ इसकी एक शाखा तामिल-देश में पहुँची थी (V. Kanak Sabhai's Tamils Eighteen Hundred years ago)। वहाँ इस जाति का नाम आयर है। इस जाति के उपास्य देवता गोपकृष्ण थे। संभवतः इसी जाति ने अपने उपास्य देवता को विष्णु का अवतार मान-कर वेदोक्त विष्णु के लक्षणों को उनके बाल्य-जीवन के साथ ग्रथित कर दिया था, और श्रीकृष्ण के गोप-जीवन की कहा-नियाँ प्रचलित तथा पल्लवित की थीं। यही जाति पीछे दाक्षिणात्य में फैली थी, और अपने साथ श्रीकृष्ण के बाल्य जीवन की कहानियाँ ले गई थी। तामिल-देश में बसी हुई आयर-जाति के भीतर ईस्वी सन् के पहले, रामलीला के खेल के सदृश, श्रीकृष्ण की बाल्य लीला का नाटकीय अभिनय होता था (V. Kanak Sabhai) दाक्षिणात्य में संभवतः इन कहानियों के आधार पर भक्ति-मार्ग की साधना का विशेष विकास हुआ था। वहाँ भक्ति-मार्गावलंबी वैष्णवों का एक संप्रदाय संगठित हुआ था, जो श्रीकृष्ण का उपासक था। इस संप्रदाय में कुछ ऐसे भक्त थे, जिन्होंने आवेग-पूर्ण भजन की रचना की थी। भजन लिखने

वाले ये भक्तगण 'आलवार' कहलाते थे। दाक्षिणात्य में भक्ति-धर्म के विकास का इतिहास पीछे दिया जायगा।

छांदोग्य उपनिषदोक्त कृष्ण देवकी-पुत्र और सूर्योपासक घोर आंगिरस-ऋषि के शिष्य कहे गये हैं। ऋषि ने अपने शिष्य को जो उपदेश दिया था, उसमें यज्ञ के साथ पुरुष (जीव) की तुलना की गई है। क्षुधार्त तृष्णार्त निरानंद जीव की स्थिति दीक्षा के तुल्य है, क्योंकि उस समय यज्ञ करने वाले को पान, भोजन इत्यादि से वंचित रहना पड़ता है। जब जीव खाता-पीता तथा आनंद करता है, तब उसकी स्थिति यज्ञ के दान-कर्म के समान है। जब वह हँसता और सुख भोग करता है, तब उसकी स्थिति यज्ञ के उस समय के समान है, जिस समय गीत-वाद्य, भजन तथा शास्त्र-पाठ होता है। प्रायश्चित्त, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्य-भाषण जीव-रूपी यज्ञ की दक्षिणा है। जीव तथा यज्ञ की समानता 'सू' धातु से प्रतिपन्न होती है, क्योंकि इसके अर्थ 'यज्ञ' तथा 'प्रसव करना' दोनों हैं। [जिसका प्रसव होता है, वही जीव है।] मनुष्य की मृत्यु यज्ञान्त के स्नान के समान है। इस प्रकार पुरुष-यज्ञ-विद्या का उपदेश देकर ऋषि ने देवकी-पुत्र कृष्ण से कहा—"जिसकी मृत्यु आसन्न है, उसे इन तीन विषयों का चिंतन करना चाहिये—"अहो, तू अविनश्वर है! तू अविकार है! तू जीवन का सार है।" यह सुनकर कृष्ण को अन्य ज्ञान की स्पृहा न रही। ऋषि ने तब इस विषय के मंत्रों की आवृत्ति की—

"आदित् प्रत्नस्य रेतसः उद्वयंतमसस्परि ज्योतिः पश्यंत उत्तरं स्वः पश्यंत उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योति रुत्तममिति।"

अर्थात्, उस आदि कारण की ज्योति को देखकर—उस तीव्र ज्योति को, जो सब अंधकार से परे है—और उस ज्योति को अपने हृदय में भी अनुभवकर हम उस देवों के देव को—उन

ज्योतियों की श्रेष्ठतम ज्योति जो सूर्यदेव हैं, उनको प्राप्त करते हैं—उस श्रेष्ठतम ज्योति को।

वैष्णव धर्म की उत्पत्ति और विकास (२)

गीता में, जो श्रीकृष्ण-रचित कही जाती है, श्रीकृष्ण ने अपने गुरु से प्राप्त ये ही तत्त्व सुनाए हैं। उपनिषद् में पाया जाता है कि कृष्ण ने अपने गुरु से सीखा था कि मनुष्य-जीवन के जितने कर्म हैं, वे भगवान् के उद्देश से किए हुए यज्ञ के समान हैं। इसके साथ गीता (९, २७) की शिक्षा मिलाइए—

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ;
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् "

उपनिषद् में कृष्ण ने सीखा था कि—

"तपोदानमार्जवमहिंसा सत्यवचनम्" साधारण यज्ञ की दक्षिणा के समान धर्म-पुष्टिकर (फलप्रद) है।

गीता में श्रीकृष्ण ने शिक्षा दी है कि—

"दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायं तप आर्जवं अहिंसा सत्यम्" उन्हीं लोगों के लिये है, जो देवताओं के समान गुणों को लेकर जन्म ग्रहण करते हैं।

उभय ग्रन्थों से और कुछ उद्धरण पास-पास रख दिए जाते हैं—

(१) अन्तवेलायामेतत् त्रयं प्रतिपद्येत अक्षितमस्य च्युतमसि प्राण-संशितमसि। (उपनिषद्)

(२) उद्वयन्तमसस्परिज्योतिः पश्यन्त उत्तरं स्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यम्। (उपनिषद्)

(१) अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।

(गी० ८, ५)

प्रयाणकाले...यदक्षरं वेदविदो वदन्ति ।

(गी० ८, १०-११)

(२) सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

(गी० ८, ९)

मिलाकर देखने से दोनों में बहुत सादृश्य देखे जायँगे । क्या यह समता आकस्मिक है ? जब उभय ग्रन्थों की उक्तियाँ एक ही देवकी-पुत्र कृष्ण से संबंध रखती हैं, तब क्या हम इस सिद्धांत पर उपनीत नहीं हो सकते कि श्रीकृष्ण को घोर आंगिरस से शिक्षा मिली थी, और श्रीकृष्ण ने अपने शिष्यों, अर्थात् भागवतों को वही शिक्षा दी थी ?

अब यह प्रश्न है कि गीता किस समय रचित हुई थी। बाणभट्ट की कादंबरी सप्तम शताब्दी ईस्वी में लिखी गई थी। उसमें गीता का उल्लेख है—"महाभारतमिवानन्तगीताकर्णनान्दितनरम् ।" सर्वनाथ के कोह-ताम्रशासन से, जो षष्ठ शताब्दी ईस्वी में उत्कीर्ण हुआ था, मालूम होता है कि महाभारत में एक लक्ष श्लोक हैं। हरिवंश तथा महाभारत के १२ वें और १३ वें पर्व को महाभारत में शामिल न करने से एक लक्ष की संख्या पूर्ण नहीं होती । १२ वें पर्व में गीता का उल्लेख है । अतएव गीता षष्ठ शताब्दी के बहुत पहले विद्यमान थी। अनुगीता महाभारत के १४ वें पर्व का अंश है। उसके नाम से ही ज्ञात होता है कि वह गीता की परवर्ती है। अतएव गीता महाभारत के अंतर्गत प्राचीन काव्यों में से एक है।

गीता में बादरायण के ब्रह्मसूत्रों का उल्लेख है। इससे गीता ब्रह्मसूत्रों की परवर्ती होनी चाहिए। किंतु ब्रह्मसूत्रों (१५, ७) में भी गीता का उल्लेख मिलता है। अतएव गीता तथा

ब्रह्मसूत्र को समसामयिक मानना अनुचित न होगा। अपस्तंब-सूत्रों में भी ब्रह्मसूत्रों की आलोचना है। विद्वानों का मत है कि अपस्तंब खी० पू० तृतीय शताब्दी के पहले जीवित थे। अतएव गीता खी० पू० तृतीय शताब्दी के पहले का ग्रन्थ है। उसमें व्यूहवाद का उल्लेख नहीं किया गया है। घसुंडी और नानाघाट के लेखों तथा पातंजल महाभाष्य में व्यूहों का उल्लेख है। अतएव गीता इन शिलालेखों तथा महाभाष्य की पूर्ववर्ती है।

श्रीकृष्ण ने घोर आंगिरस ऋषि से जो कुछ सीखा था, क्या गीता में उसी की पुनरावृत्ति है? यह नहीं कहा जा सकता कि गीता के कितने अंश के लिये श्रीकृष्ण अपने गुरु के ऋणी हैं, और कितना अपनी स्वाधीन चिंता-प्रसूत है। वेसनगर के लेख में दम, त्याग तथा अप्रमाद पर बहुत ज़ोर दिया गया है? गीता (१६, १२) में भी दम, त्याग तथा अपैशुन सिखाए गए हैं। किंतु छांदोग्य-उपनिषद् (३, १७, ४) में इन गुणों का उल्लेख नहीं है। अतएव यह कहा जा सकता है कि यद्यपि श्रीकृष्ण को घोर आंगिरस ऋषि से प्राथमिक शिक्षा मिली थी, तथापि गीता श्रीकृष्ण की स्वाधीन चिंता तथा विशाल धी-शक्ति की परिचायक है।

भागवत धर्म का, जो वैष्णव धर्म का मूल है, उत्पत्ति-स्थान मथुरा-प्रांत था, और उसके जन्मदाता श्रीकृष्ण वृष्णि या सात्वत-वंश की यादव-शाखा में उत्पन्न हुए थे। वह सूर्योपासक घोर आंगिरस ऋषि के शिष्य थे। सूर्य से इस धर्म के संबंध का उल्लेख बहुत ग्रन्थों में मिलता है—

"सात्वतं विधिमास्थाय प्राक् सूर्यमुखीनः सृतम्।"

(म० १२, ३३५, १६)

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्;

विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।"

(गी० ४, १)

आदित्यों में एक आदित्य थे विष्णु, जिन्हें भागवतों ने एकमात्र ईश्वर माना है। वासुदेव के गरुड़ और चक्र सूर्य से संबंध रखते हैं।

भागवत धर्म में गीता का स्थान सर्वोच्च है। जिन महात्मा या महात्माओं ने इसका संकलन किया है, उनका ऋण अपरिशोधनीय है। महाभारत के शांतिपर्व में दिखाया गया है कि भागवत वा एकांतिक धर्म की शिक्षा ही गीता में दी गई है—

"एवमेष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ;
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ।"

(म० १२, ३४६, ११)

"समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे;"
अर्जुने विमनस्के च गीता भागवता स्वयम् ।

(म० १२, ३४८, ८)

खी० पू० चतुर्थ शताब्दी में वासुदेव के मुख्य अनुयायीवर्ग मथुरा के चारों ओर पाए जाते थे। यह बात मेगास्थिनिस के विवरणों में मिलती है।

खी० पू० तृतीय शताब्दी में इस धर्म की विद्यमानता का अधिक परिचय नहीं मिलता। उस समय वह केवल दोआब तक सीमाबद्ध था, और बौद्धधर्म प्रबल रहने के कारण मगध तक नहीं पहुँचा था। किंतु खी० पू० द्वितीय शताब्दी में इसकी ख्याति भारतवर्ष की सीमा तक पहुँची थी, और भारत के बाहर के लोग भी इसमें दीक्षित हुए थे, जैसे घसुंडी तथा बेसनगर के लेखों से जान पड़ता है। ग्रीक-दूत हेलियोदोरस ने इस धर्म को ग्रहणकर ग्वालियर-प्रांत के बेसनगर में एक स्तंभ निर्माण करवाया था।

संकर्षण का नाम कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में पाया जाता है। महाभारत (२, ७६, २३) में संकर्षण हैं श्रीकृष्ण के बड़े भाई और कंस के निधन में प्रधान सहायक। भागवत धर्म के दार्शनिक तत्त्व में वासुदेव हैं परमात्मा और संकर्षण जीव—

"यं प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता वै द्विजसत्तमाः ;
स वासुदेवो विज्ञेयः परमात्मा सनातनः।"
(म० १२, ३३६, २५)

ज्ञेयः स एव राजेन्द्र जीवः संकर्षणप्रभुः।"
(म० १२, ३६, ४०)

संकर्षण तथा वासुदेव की अर्चना से भागवतों तथा पंचरात्रों के व्यूहवाद के मूल-तत्त्व का पता मिलता है। सृष्टि करते हुए भगवान् वासुदेव ने अपने भीतर से 'प्रकृति' के अतिरिक्त 'संकर्षण'-नामक एक व्यूह (अर्थात् सोपाधिक आत्माओं की एक श्रेणी) की भी सृष्टि की। 'संकर्षण' के साथ 'प्रकृति' के संयोग से 'मनस्' (जिसे सांख्यगण 'बुद्धि' कहते हैं) की तथा 'प्रद्युम्न'-नामक एक गौण श्रेणी की सोपाधिक आत्माओं की उत्पत्ति हुई। 'प्रद्युम्न' के साथ 'मनस्' के संयोग से (सांख्यों का) 'अहंकार' तथा एक तृतीय श्रेणी की सोपाधिक आत्माएँ उत्पन्न हुईं, जिस श्रेणी का नाम है 'अनिरुद्ध'। 'अहंकार' के साथ 'अनिरुद्ध' के संयोग से महाभूतों और उनके गुणों तथा ब्रह्मा का उद्भव हुआ। ब्रह्मा ने भूतों से जगत् की सृष्टि की।

बेसनगर के लेखों में पाया जाता है कि आत्मसंयम, दान तथा विवेक के अभ्यास से स्वर्ग-प्राप्ति होती है, यथा—

"त्रिणि अमुत पदानि सु-अनुट्ठितानि ;
नयन्ति स्वगं दम चाग अप्पमाद।"

बेसनगर का लेख वैष्णव धर्म के इतिहास में बहुत महत्त्व-पूर्ण है। इसमें हेलिओदोरस ने अपने आराध्य देवता का 'देवदेव' नामदिया है। घोर आंगिरस ऋषि ने देवकी-पुत्र कृष्ण को जो उपदेश दिया था, उसमें मिलता है कि ऋग्वेद में सूर्य के लिए 'देवं देवत्रा' विशेषण व्यवहृत हुआ है। अतएव हेलिओदोरस के लेख में श्रीकृष्ण के देवत्व का सबसे पहला स्पष्ट निदर्शन मिलता है। पाणिनि से पता चलता है कि उनके समय श्रीकृष्ण को देवता की पदवी मिल चुकी थी, किंतु बेसनगर के लेख में वह भगवान् माने गए हैं। पातंजल भाष्य में वासुदेव भगवान् से अभिन्न कहे गए हैं।

पतंजलि के समय कृष्ण-लीला खेली जाती थी। अभिनय के विषय थे 'बलिबंध' तथा 'कंसवध'। बलिबंध तो विष्णु से संबंध रखता है, किंतु इस नाटकीय खेल में कृष्ण ही विष्णु के स्थानीय किए जाते थे। इससे स्पष्ट है कि उस समय कृष्ण विष्णु से अभिन्न माने जाते थे। कृष्ण का केशव नाम भी दिया गया था। बोधायन धर्म-सूत्रों (२,५,२४) में 'केशव' नारायण-विष्णु की एक उपाधि है।

तैत्तिरीय आरण्यक (१०,१,६) में भी वासुदेव नारायण-विष्णु से अभिन्न बताए गये हैं। अपस्तंब धर्म-सूत्र खी० पू० तृतीय शताब्दी का प्रमाणित हुआ है। उसमें इस आरण्यक का उल्लेख है। तृतीय शताब्दी से पहले के इस वैदिक ग्रंथ में वासुदेव का नारायण-विष्णु का नाम पाना आश्चर्य की बात है, क्योंकि महाभारत से पता चलता है कि ब्राह्मणगण भागवत धर्म के विरोधी थे।

खी० पू० द्वितीय शताब्दी के भागवत शिला-लेखों में वासुदेव और संकर्षण के नाम हैं, किंतु ब्राह्मणों के देवता नारायण-विष्णु का नाम नहीं पाया जाता। तथापि बेसनगर के गरुड़ध्वज से

मालूम होता है कि भागवतों ने नारायण-विष्णु को अपना देवता स्वीकार कर लिया था।

अन्य किसी वैदिक देवता के साथ कृष्ण की एकता स्थापित न होकर विष्णु के साथ उनकी एकता क्यों स्थापित हुई थी? इसलिये कि आदि काल से विष्णु मनुष्यों को विपदों से उद्धार करते आये थे (ऋक् ६, ४६, १३)। शतपथ ब्राह्मण (५, २, ५, २-३) में कहा गया है कि मनुष्यगण विष्णु हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में दिखाया है कि विष्णु देवतों के प्रधान सहायक हैं। शतपथ ब्राह्मण (१, २, ५, ५) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (१,६,१,५) में वर्णित है कि विष्णु ने वामन का रूप धारण कर, देवताओं के लिए, असुरों से पृथिवी का उद्धार किया था। उसी ब्राह्मण (१०,११,१,) में नारायण सनातन, प्रधान तथा ईश बताये गये और हरि के नाम से अभिहित हुए हैं। इन सब कारणों से ब्राह्मणों ने विष्णु को ही सबसे बड़े देवता माना था, और गीतोक्त अवतार-वाद का केंद्र बनाया था—

> परित्राणाय साधूनाँ विनाशाय च दुष्कृताम् ;
> धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।"

नानाघाट का गुहा-लेख भागवत लेख नहीं है। यह ब्राह्मण-धर्मावलंबी एक रानी की कीर्ति है। इसमें वैदिक देवतों के साथ संकर्षण तथा वासुदेव के नाम पाये जाते हैं। इससे अनुमान होता है कि उस लेख के समय के पहले ही ब्राह्मणों तथा भागवतों में मेल हो गया था। महाभारत (१२,२१०,१०) में कहा गया है कि वेदज्ञ लोग वासुदेव को विष्णु करके जानते हैं—"पुरुषं सनातनं विष्णुं यं तं वेदविदो विदुः", और उसी ग्रंथ (१२,४७,६४) में वासुदेव ब्राह्मणों के मित्र कहे गये हैं—"नमो ब्रह्मण्य देवाय गोब्राह्मणहिताय च।"

नानाघाट के लेख से मालूम होता है कि उस समय भागवत धर्म उत्तर-भारत में ही सीमावद्ध न था। उसने महाराष्ट्र के लोगों को भी आकृष्ट किया था। वहाँ से वह तामिल देश में भी फैल गया था, और उस देश में पूर्ण वल-संचय कर समग्र हिंदू-जगत् को अपने अधिकार में लाया था।

भागवत धर्म का एक वड़ा प्रभाव वौद्ध तथा जैनधर्मों पर पड़ा था। अहिंसा धर्म का अंकुर छांदोग्य-उपनिषद् में निहित है, और इसी से वौद्धों तथा जैनों ने इसको ग्रहण किया था। सद्धर्म-पुंडरीक में वुद्धदेव ने कहा है—"मैं जीवलोक में वार-वार जन्म लेता हूँ। मैं जीवों के दुःख का अनुभव करता हूँ। मैं उन्हें सत्य-पथ दिखाऊँगा।" यह गीता (४,७-८) की प्रतिध्वनि-मात्र है।

पहली तीन ईस्वी शताब्दियों के भागवत धर्म का इतिहास अंधकाराच्छन्न है। इस समय के केवल तीन शिला लेखों में श्रीकृष्ण का उल्लेख है—(१) महाक्षत्रपशोडास का मथुरा का लेख, (२) वसिठिपुत सिरि पुलमायि के समय का नासिक का वौद्ध गुहालेख और (३) राजा गोतमपुत सिरि रञा सातकणि के समय का चीन शिलालेख। यद्यपि भागवत धर्म का जन्म-स्थान मथुरा था, तथापि शक-कुशानों के काल में वह उस धर्म का गौरवस्थल न रहा। वह तव वौद्ध, जैन तथा सर्प-पूजकों के अधिकार में आ गया था। शक तथा कुशान-वंशीय राजगण या तो शैव थे या वौद्ध, और वासुदेव धर्म के प्रति सद्भाव-युक्त न थे।

चतुर्थ शताब्दी ई० से भागवत धर्म के पुनरुत्थान का आरंभ हुआ। गुप्त सम्राटगण अपने तईं 'परम भागवत' कहते थे, और भागवत धर्म के विशेष पोषक थे। उनके प्रताप की वृद्धि के साथ-साथ भागवत धर्म की श्री-वृद्धि होती गई, और भारत

के दूर-दूर प्रांतों तक भागवत धर्म फैला। इस समय के असंख्य शिलालेख इस बात की गवाही देते हैं। जो सब राज्य गुप्त-साम्राज्य के अधीन थे, उसके अधःपतन के बाद उनमें से अनेकों में इस धर्म की चलती बजा रह गई।

गुप्तों के समय विष्णु और कृष्ण अभिन्न माने गए थे। विष्णु ही प्रधान देवता थे, और कृष्ण उनके अवतार। शिलालेखों से विदित होता है कि इस समय अवतार-वाद पर विश्वास दृढ़ हुआ था, और मत्स्य, वराह, नृसिंह इत्यादि नाना अवतारों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हुईं, और उनकी अर्चना जारी हुई थी।

गुप्त-काल के किसी शिलालेख में राम-अवतार का उल्लेख नहीं मिलता। राम-भक्ति का अभी तक शैशव था। रामानंद के पहले किसी राम-भक्त-संप्रदाय का परिचय नहीं मिलता।

गुप्त-काल के किसी शिलालेख में व्यूहों का इंगित नहीं मिलता। अवतार-वाद की प्रबलता के कारण कदाचित् व्यूह-वाद आड़ में पड़ गया था। व्यूह-वाद के निराकरण से ही भागवत धर्म वैष्णव धर्म में परिवर्तित हो गया था।

गुप्तों के समय की एक विशिष्टता यह थी कि उस समय लक्ष्मीदेवी का आदर होने लगा, और वैष्णव धर्म में लक्ष्मीनारायण के युगल रूप की आराधना उसकी एक विशिष्टता हो गई थी। इससे अनुमान होता है कि सांख्यदर्शन का प्रभाव उस पर प्रबलता से पड़ा था। सांख्य-मत के अनुसार सृष्टि प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से हुई है। सृष्टि का मूल-कारण है प्रकृति, पुरुष साक्षी-मात्र है। जितने पुराण हैं, वे सांख्यदर्शन के आधार पर गठित हुए हैं। गुप्तयुग में पुराण-शास्त्र का संस्कार हुआ था और संभवतः उसी समय प्रत्येक देवता के साथ एक-एक देवी का संपर्क कल्पित हुआ था।

शंकराचार्य ई० अष्टम शताब्दी में जीवित थे। उस समय भागवत धर्म का कुछ अवशेष था। उन्होंने अपने वेदांत-भाष्य (२,२,४२-४५) में पंचरात्र की समालोचना की है, और कहा कि वेदद्रोही उदर शांडिल्य ऋषि, जो जनमेजय राजा के पुरोहित थे, शांडिल्य-सूत्र लिखकर वासुदेव धर्म को शृंखला में लाये थे।

यद्यपि उत्तर-भारत में ही भागवत धर्म की उत्पत्ति हुई थी, और वहाँ उस समय तक किसी परिमाण में जारी भी था, किंतु उसका प्राधान्य अब उत्तर-भारत में न रहा। उसका केंद्र उठकर दाक्षिणात्य में चला गया था, और उसका अनुशीलन तामिल-देश में विशेष प्रकार से हो रहा था। वहाँ के आलवार लोगों ने भक्ति-मार्ग तथा श्रीकृष्ण की आराधना को विशेष प्रेरणा दी थी। खी० पू० प्रथम शताब्दी के पहले ही भागवत धर्म ने दाक्षिणात्य में प्रवेश-लाभ किया था (नानाघाट का लेख देखिए)। 'चिलप्प-थिकरम्'-नामक प्राचीन तामिल-काव्य में तथा अन्यान्य प्राचीन तामिल-ग्रंथों में भी कृष्ण-बलराम की उपासना के लिये मंदिरों के निर्माण प्रसंग है (V. Kanaksabhais' Tamils Eighteen Hundred Years Ago, pp· 13-26)

वैष्णव किंवदंती के अनुसार तामिल-देश में १२ आलवारों का आविर्भाव हुआ था। उनके नामों का क्रम यह है—

(१) पोयगइ आलवार, (२) भूतत्तर आलवार, (३) पेय आलवार, (४) तिरुमलिशइ आलवार (५) नम्म आलवार वा संत सट्गोप, (६) मधुर कवि आलवार, (७) कुल शेखर आलवार, (८) पेरिय आलवार, (९) आंडाल आलवार (१०) तोंडर डिप्पोडि आलवार, (११) तिरुप्पाण आलवार, (१२) तिरुमंगइ आलवार।

ये आलवारगण नारायण को सर्वोच्च देवता मानते थे,

अक्सर विष्णु के अवतारों का, विशेषकर त्रिविक्रम का, नाम लेते थे, और कृष्णावतार की प्रशंसा में सहस्र-कंठ होते थे। वे पुराणों पर श्रद्धा रखते थे, और श्रीरंगम, तिरुपति इत्यादि स्थानों में प्रतिष्ठित विष्णु या उनके अवतारों की मूर्तियों के प्रति भक्तिमान् थे। वे वेद का सम्मान करते थे, और हरिनाम के जप, मंदिरों में हरि की सेवा और हरि की मूर्तियों के ध्यान से साधना करने का उपदेश देते थे। प्रत्येक ने कुछ भजनों की रचना की थी। उन भजनों में कृष्ण-भक्ति की पराकाष्ठा दिखाई गई है।

अंतिम आलवार तिरुमंगइ ४००० वैष्णव भजनों के रचयिता थे। यह रामानुजाचार्य के अनेक पूर्ववर्ती थे, और श्रीरंगम के मंदिर में रहते थे। इनके भजनों के अध्ययन से रामानुज ने बहुत लाभ उठाया था। संभवतः यह ई० सप्तम शताब्दी में जीवित थे।

आलवारों की उपासना आवेग की तीव्रता के लिये प्रसिद्ध है। उनके पश्चात् एक श्रेणी के वैष्णव शिक्षकों का अभ्युदय हुआ था, जो आचार्य कहलाते थे। वे वैष्णव धर्म के ज्ञान-मूलक तथा दार्शनिक तत्त्वों के विधान में नियत थे। प्रथम आचार्य थे नाथमुनि या रंगनाथाचार्य, जो नवम शताब्दी के अंतिम भाग में श्रीरंगम में रहते थे। जो सब भागवत उत्तर-भारत से दक्षिण-भारत में आकर बसे थे, यह उनमें से किसी के वंशज थे।

नाथमुनि आलवारों के भजनों के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने संस्कृत में 'न्यायतत्त्व'-नामक एक ग्रंथ लिखा था, जिसमें विशिष्टाद्वैत-वाद के सब दार्शनिक तत्त्व विस्तार से आलोचित हुए हैं। 'प्रपत्ति', अर्थात् संपूर्ण रूप में भगवान् के शरण में आना, ही इस मत का मूल-मंत्र है। पीछे रामानुज ने इसी मत की पुष्टि की थी। यह मत पंचरात्र-मत के आधार पर प्रतिष्ठित है।

इन्हीं के पौत्र का नाम था यामनुचार्य, जिनका वि० सं० ६७३ में जन्म हुआ था। नाथमुनि वि० सं० ६७७ में परलोक सिधार गये। उन्हों ने वैष्णव धर्म को शक्तिशाली किया था, और जिस श्रीवैष्णव संप्रदाय की प्रतिष्ठा उन्होंने की थी, भविष्यत् में उसका बड़ा भारी प्रभाव भारत के इतिहास पर पड़ा था।

द्वितीय आचार्य पुंडरीकाक्ष का जन्म वि० सं० ८८३ में हुआ था। तृतीय आचार्य राम मिश्र थे। यह चतुर्थ आचार्य यामुनाचार्य के गुरु थे।

जिन मतवादों के लिये रामानुजाचार्य का नाम प्रसिद्ध है, उनकी नींव यामुनाचार्य ने ही डाली थी। यामनुचार्य के पिता का नाम ईश्वर भट्ट था, और पितामह का नाथमुनि। यामुनाचार्य के प्रधान ग्रंथ का नाम 'सिद्धित्रय' है, और उसके तीन अंश हैं—आत्मसिद्धि, ईश्वर-सिद्धि तथा संवित्-सिद्धि। उस ग्रंथ में 'अविद्या' का खंडन किया गया है, और जीवात्मा तथा परमात्मा की वास्तवता प्रमाणित की गई है। अपने गीतार्थ-संग्रह में उन्होंने दिखाया है कि गीता में मुख्यतः भक्ति-योग की और गौणतः कर्मयोग तथा ज्ञान-योग की शिक्षा दी गई है। अतएव वैष्णव धर्म के इतिहास के विकास में यामुनाचार्य का स्थान सर्वोच्च है। यदि यामुनाचार्य न होते तो रामानुजाचार्य का इतना बड़ा होना असंभव होता। वि० सं० १०१७ में यामुनाचार्य ने देह-रक्षा की थी।

पूर्व मीमांसादर्शन के अनुयायी ब्राह्मणगण बौद्धों के निरीश्वरता देखकर विचलित हुए। भविष्यत् में कदाचित् भारतवर्ष-भर में नास्तिकता फैल जाय, इस आशंका से वे बौद्धों के विरुद्ध दंडायमान हुए, और लोगों को देवतों के उद्देश्य में यज्ञादि करने को उत्साहित करने लगे। प्रभाकर, कुमारिल भट्ट, मंडन

मिश्र आदि कर्ममार्ग के प्रधान समर्थक थे। शंकराचार्य ने शास्त्रार्थ के द्वारा उनकी अयौक्तिकता दिखाई। वैष्णवगण, अर्थात् विशिष्टाद्वैतवादीगण, भी कर्मकांड के समर्थक न थे। वे वैसे कर्मों के विरोधी थे, जो फल की प्रत्याशा से किए जायँ।

किंतु वैष्णवगण शंकराचार्य के दार्शनिक मत के विरोधी थे। शंकराचार्य ज्ञान-मार्ग के समर्थक थे, और अखंडनीय तर्क के द्वारा उन्होंने अद्वैतवाद स्थापित किया था। वैष्णवगण उनकी युक्तियों को मस्तिष्क की कसरत समझते थे, उनमें हृदय कहाँ है? यदि ब्रह्म में कोई वस्तु हो न हो, तो उनसे मनुष्य का संबंध कैसे स्थापित हो सकता है? निर्गुण ब्रह्मवाद में भक्ति का कोई स्थान नहीं। वैष्णवगण 'जीव का ब्रह्म होना' नहीं चाहते थे; वे ईश्वर के क्रोड़ में आश्रय लेना चाहते थे। वे चीनी होना नहीं चाहते थे, चीनी को चखना चाहते थे। यह सत्य है कि एक राज्य में एक से अधिक राजा का रहना असंभव है, किंतु क्या उसमें उनके दास-दासी और प्रजापुंज नहीं रह सकते? अतएव 'एकमेवाद्वितीयम्'-वाक्य का समर्थन नहीं किया जा सकता। वैष्णवों का विश्वास है कि ईश्वर के साथ जीव का व्यक्तिगत संबंध है। भगवान् हमारे सृष्टिकर्ता, पिता और विधाता हैं। हम संबंध-हीन अवच्छिन्नता (abstraction) की धारणा नहीं कर सकते। वस्तुओं के भीतर जो संबंध है, उसे जानना ज्ञान के लिये आवश्यक है। कोई निर्गुण सत्ता कारण-पद-वाच्य नहीं हो सकती, क्योंकि वास्तव पदार्थों से उसका कोई संबंध नहीं पाया जाता। मनुष्य की ईश्वर-संबंधी जो धारणा है, उसके अनुसार कोई निर्गुण सत्ता ईश्वर नहीं हो सकती। इसी युक्ति के बल से देवतों की मूर्तियाँ कल्पित हुई हैं। उपासकों की ईश्वर-संबंधी धारणा के अनुसार नाना मूर्तियाँ बनी हैं।

वि० सं० ग्यारहवीं शताब्दी के अंत के लगभग भूतपुरी में रामानुज का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम था केशव सोमयाजी और माता का भूदेवी। वह प्रधानतः यादवप्रकाश के शिष्य थे, किंतु और भी पांच व्यक्तियों के निकट वह अपनी शिक्षा के लिये ऋणी थे—(१) महापूर्ण, (२) श्रीशैलपूर्ण, (३) गोष्ठीपूर्ण, (४) श्रीरंगनाथ गुरु और (५) मालाधर। कांचीपूर्ण ने उनके शिशु-हृदय में जो ज्ञान का बीज रोपण किया था, वही पीछे महान् महीरुह में परिणत होकर विचित्र पत्र-पुष्प-फल-शोभित हुआ था, और उसी ने भारतवासियों को भक्ति के मधुर रस का आस्वादन कराया था। (३१वां पृष्ठ देखिये।)

विशिष्टाद्वैतवाद का बीज विष्णुपुराण तथा महाभारत में सूक्ष्म रूप में निहित था। ऐसी किंवदंती है कि बोधायन ने भी वेदांत-दर्शन पर विशिष्टाद्वैतवादानुयायी एक विस्तीर्ण व्याख्या लिखी थी। रामानुज ने स्वीकार किया है कि उन्होंने मुख्यतः बोधायन का अनुसरण किया है।

'विशिष्टाद्वैतवाद' शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—द्विधा इतम्=द्वीतम्। तस्य भावः=द्वैतम्। न द्वैतम्=अद्वैतम्=भेदाभावः=ऐक्यम्। विशिष्टः=चेतना-चेतनासमन्वितः। तस्य अद्वैतम्=विशिष्टाद्वैतम्। विशिष्टं चविशिष्टं च=विशिष्टे=स्थूलचिद्विशिष्टं सूक्ष्मचिद्विशिष्टं च ब्रह्मणी। तयोः विशिष्टयोः ब्रह्मणोः अद्वैतम् वस्तुतोऽभेदः=विशिष्टाद्वैतम्। तन्निर्णायको वादः (सिद्धान्तः)=विशिष्टाद्वैतम्।

विशिष्ट का अर्थ है चेतन तथा अचेतन-विशिष्ट ब्रह्म। द्वैत का अर्थ है भेद, अद्वैत का अर्थ है अभेद। वाद का अर्थ है सिद्धांत। चेतन तथा अचेतन भाग-विशिष्ट ब्रह्म का अभेद या एकत्व। इस एकत्व-निरूपक सिद्धांत का नाम है 'विशिष्टाद्वैतवाद'।

प्रलय-काल के ब्रह्म सूक्ष्म चेतनाचेतन-विशिष्ट हैं, क्योंकि उस समय चेतन तथा अचेतन सभी पदार्थ ब्रह्म में सूक्ष्म अवस्था में विलीन रहते हैं। किंतु सृष्टि-काल के ब्रह्म स्थूल चेतनाचेतन-विशिष्ट हैं, क्योंकि उस समय चेतन तथा अचेतन पदार्थ-समूह ब्रह्म से निर्गत होकर स्थूल भाव में ब्रह्म में ही अवस्थान करते हैं। चेतनाचेतन पदार्थ-समूह हैं शरीर, और ब्रह्म हैं उस शरीर की अधिष्ठाता आत्मा। शरीर कभी शरीरी (आत्मा) से भिन्न नहीं हो सकता, और शरीर और शरीरी का एकत्व लोक-प्रसिद्ध है। अतएव चेतनाचेतन-विशिष्ट ब्रह्म का एकत्व कभी अयौक्तिक नहीं हो सकता। वृक्ष स्वरूपतः एक है। उसकी शाखा-प्रशाखाएँ अनेक होने पर भी वह एक ही है। उसी प्रकार जीव, जगत् तथा ईश्वर अलग-अलग होने पर भी उनकी समष्टि ही परम पुरुष एक नारायण हैं।

मध्वाचार्य ई० त्रयोदश शताब्दी में जीवित थे। उनका शंकर-मत-विरोध रामानुजाचार्य से भी अधिक तीव्र था। रामानुज ने अपने ग्रंथों में श्रीमद्भागवत का उल्लेख नहीं किया। आनंदतीर्थ (मध्व) ने सबसे पहले इस पुराण का उल्लेख किया है। दार्शनिकों में निंवार्क ने, जो आनंदतीर्थ के परवर्ती थे, अपनी ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या में सबसे पहले राधाकृष्ण की उपासना की घोषणा की है।

गोपाल-कृष्ण की आख्यायिका सबसे पहले हरिवंश और विष्णुपुराण में मिलता है। महाकवि भास के 'बाल-चरित' में श्रीकृष्ण की वृंदावन-लीला का वर्णन है। गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाओं का वर्णन हरिवंश और विष्णुपुराण में है, और विस्तृत विवरण श्रीमद्भागवत में दिया गया है। किंतु राधा का नाम विष्णुपुराण या भागवत में नहीं है; केवल हरिवंश के एक स्थान में इंगित-मात्र है।

'सुधा' की सं० १९८४ की माघ तथा फाल्गुन की संख्याओं में मैंने रामानुज की जीवनी तथा दार्शनिक मत का सविस्तर वर्णन किया है, (पृ० २० में "रामानुज" नामक लेख देखिये ।) और उस पत्र की सं० १९८५ की किसी संख्या में माध्व संप्रदाय का विवरण दिया है। पाठकों के निकट मेरी विनीत प्रार्थना है कि वे कृपया इन लेखों को पढ़ देखें।

श्रीचैतन्यदेव की दीक्षा माध्व संप्रदाय-भुक्त गुरुओं के पास हुई थी। माधवेंद्र पुरी एक असाधारण भक्त वैष्णव थे। अद्वैताचार्य, ईश्वर पुरी तथा केशव भारती उन्हीं के शिष्य थे। केशव भारती से श्रीचैतन्यदेव ने संन्यास ग्रहण किया था।

साधारण हिंदू लोग पंचदेवता के उपासक हैं। किंतु वैष्णवगण अपने देवता के अतिरिक्त और किसी देवता की आराधना नहीं करते। वैष्णवों की एक विशिष्टता यह है कि वे शूद्र तथा निम्न श्रेणियों के लोगों को धार्मिक अधिकार से वंचित करना नहीं चाहते, तथापि वे जाति-भेद मानते और शास्त्रों का सम्मान करते हैं। दक्षिणी ब्राह्मणों के भीतर छुआ छूत की कठोरता अभी तक बनी है। ब्राह्मणों की भी छोटी-बड़ी श्रेणियाँ हैं। रामानुज-संप्रदाय के रामानंद ने अपने देश में अन्य ब्राह्मणों के द्वारा अपमानित होकर काशी में आश्रय लिया था।

वैष्णव धर्म के विषय में और भी बहुत-सी बातें लिखनी बाक़ी रह गई हैं। यह लेख बहुत बढ़ गया है, अतएव उन बातों की आलोचना यहाँ नहीं हो सकती। इच्छा है, दूसरे किसी लेख में वैष्णव धर्म की अवशिष्ट मुख्य-मुख्य बातें पाठकों की सेवा में उपस्थित करूँगा। (आगे " वैष्णव धर्म का दार्शनिक आधार " नामक लेख देखिये)।

बौद्ध धर्म का स्वरूप और परिणाम

बौद्ध धर्म्म निरीश्वरवाद है। यद्यपि बुद्धदेव ने कभी नास्तिक के नाम से अपना परिचय नहीं दिया तथापि उनके धर्म का अनुशीलन करने से जो तथ्य मिलता है उससे इसे निरीश्वर धर्म कहना असङ्गत नहीं मालूम होता। उनके समय में ब्रह्म-ज्ञान तथा आत्म-तत्त्व के विषय में जो मत और विश्वास जन-साधारण में प्रचलित थे उनके विरुद्ध वे खड़े हुये थे। बुद्ध का प्रदर्शित पथ नीति-मार्ग के सिवा और कुछ नहीं था। आत्म-संयम, इन्द्रिय-दमन, वासना-वर्जन इत्यादि उपाय से न्याय, सत्य, क्षमा, दया, विश्वव्यापी मैत्री इत्यादि का साधन करना ही उनके मत में मोक्षलाभ का अव्यर्थ उपाय है। जिस समय उनका प्रादुर्भाव हुआ था उस समय वैदिक उपासना-पद्धति कुछ जटिल कर्म-काण्डों में परिणत हो गई थी। इन क्रियाओं के उपदेशदाता ब्राह्मणों के आधिपत्य की कुछ सीमा नहीं थी। बुद्ध देव ने उन ब्राह्मणों के क्रिया-काण्ड के विरुद्ध अपने सरल धर्म—सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, मैत्री, आत्म-संयम, सदाचार इत्यादि—का उपदेश उस समय की प्रचलित भाषा में दिया। उन्होंने सभी श्रेणियों के लोगों में अपने धर्म का प्रचार किया था। पूर्व दक्षिण में पटना से लेकर उत्तर पश्चिम में सरस्वती तक करीब डेढ़ सौ कोस लम्बे और पचास कोस चौड़े प्रदेश के नाना स्थानों में उन्होंने पर्यटन किया था और इस विस्तीर्ण भूखण्ड में राजा, प्रजा, धनी, दरिद्र, पण्डित, मूर्ख नाना प्रकार के लोगों में उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया था। खृष्ट-पूर्व तृतीय शतक में अशोक के उत्साह से बौद्ध धर्म का बहुत गौरव प्राप्त हुआ था। हिन्दकुश-पर्वत से लेकर सिंहल द्वीप तक और काठियावाड़ से लेकर उड़ीसा तक बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ था।

फ़ाहियान ने सन् ४१४ तक और ह्वेनसांग ने सन् ६४५ तक भारतवर्ष में भ्रमण किया था। उनके लेखों से ज्ञात होता है कि फ़ाहियान के समय बौद्ध धर्म की जैसी अवस्था थी उससे ह्वेनसाँग के समय उसकी दशा हीन हो गई थी। फ़ाहियान ने जिन बौद्ध-तीर्थों और देवालयों का काम बहुत अच्छी तरह परिचालित होते देखा था, उनमें से उनके स्थानों को और उनके अतिरिक्त अनेक बौद्ध क्षेत्रों को ह्वेनसाँग ने भग्नप्राय अवस्था में अथवा शून्य पाया। कुछ ऐसे भी बौद्ध क्षेत्र पाये गये जहाँ का धर्म बौद्ध बन्धन से मुक्त होकर हिन्दू धर्म के अधीन हो गया था। उस समय से ईसवी एकादश शतक तक बौद्ध धर्म की अवनति ही होती गई। हिन्दू धर्म सहस्र वर्ष व्यापी निद्रा से जागा और बौद्ध धर्म के उच्छेद के लिये बद्ध-परिकर हुआ। यद्यपि तेरहवें शतक तक भारतवर्ष के कई एक स्थानों में बौद्ध लोग विद्यमान थे, तो भी इसमें संदेह नहीं कि वे बहुत निर्बल हो गये थे। चौदहवीं शतक के शेष में वे प्रायः अन्तर्हित हो गये थे।

इस पुनरुत्थित हिन्दू धर्म-प्रणाली के प्रधान प्रवर्तक कुमारिल भट्ट, शङ्कराचार्य्य तथा रामानुज थे। कुमारिल इसवी अष्टम शतक के आरम्भ में जीवित थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में बारम्बार बौद्ध धर्म का प्रतिवाद किया और बौद्धों के प्रति अशेष विद्वेष प्रकट किया। वेद-भाष्यकार सुविख्यात सायणाचार्य के भ्राता माधवाचार्य ने लिखा है कि कुमारिल के सहायक राजा सुधन्वा ने बौद्ध सम्प्रदाय के संहार के उद्देश से अपने कर्मचारियों के प्रति यह आदेश दिया था कि सेतुबन्ध रामेश्वर से लेकर हिमालय तक जितने बौद्ध हैं उनको मारो। जो नहीं मारेंगे वे खुद मारे जायेंगे"।

शङ्कराचार्य्य कुमारिल के परवर्ती हैं। ह्वेनसांग के भ्रमण के पहले भारतवर्ष में कोई धर्म विप्लव हुआ था, ऐसी कोई बात

उसके भ्रमण वृत्तान्त में नहीं मिलती अतएव बहुत सम्भव है कि शङ्कराचार्य्य का प्रादुर्भाव-काल ह्वेनसांग के भ्रमण के पीछे था। जहाँ तक जाना गया है, उससे यह अनुमान होता है कि शङ्कराचार्य्य का रचना-काल सन् ८०४ है।

बौद्ध धर्म में अविद्या ही दुःखोत्पत्ति का मूल कारण है। इस विषय में वेदान्त दर्शन के साथ इसका सादृश्य पाया जाता है। वेदान्त भी कहता है कि अविद्या से ही सांसारिक दुःखों की उत्पत्ति है। इस रिपु का दमन ही दोनों दर्शनों का उद्देश्य है, परन्तु वेदान्त की अविद्या और बुद्ध की अविद्या एक नहीं है। वेदान्ती कहते हैं कि जीव और ब्रह्म के बीच में यह अविद्या ही व्यवधान है—इस व्यवधान के दूर होने पर जीव और ब्रह्म में मिलन होता है। यही सोऽहम् वाक्य का अभेद-ज्ञान है। बुद्ध की अविद्या भिन्न पदार्थ है—ब्रह्म सम्बन्धी अविद्या के साथ उसका कुछ सम्पर्क नहीं। बौद्ध दर्शन में वही अविद्या है जो जीवन के प्रकृत तत्त्व को जीव से छिपा रखती है, और वही दुःखोत्पत्ति का यथार्थ कारण है। अतएव अविद्या से ही विषय-तृष्णा उत्पन्न होती है। जन्म ही आसक्ति का प्रमाण है। रोग, शोक, दुःख, कष्ट जन्म के साथी हैं। इस जन्म-बन्धन से छूट जाना ही मुक्ति है। अविद्या दूर होने से उसके नीचे के जितने बन्धन हैं सब एक एक करके कट जाते हैं। संक्षेप में 'अहम्' का ज्ञान लुप्त हो जाता है, जन्म का बन्धन छिन्न हो जाता है और निर्वाण का पथ उन्मुक्त होता है।

अनेक विषयों में बौद्ध और सांख्य मतों का ऐक्य देखा जाता है। कपिल और बुद्ध दोनों निरीश्वरवादी हैं। बौद्ध और सांख्य उभय दर्शनों में संसार निरवच्छिन्न दुःखमय है और दुःख से जीव का परित्राण ही उभय मतों का मूल सूत्र है। जैसे कुछ कुछ विषयों में दोनों का सादृश्य है, वैसे अनेक विषयों में दोनों

की विभिन्नता भी है। कहा गया है कि उभय का लक्ष्य दुख-मोचन है, परन्तु यह लक्ष्य की सिद्धि होने का क्या उपाय है? कपिल मुनि ने दो तत्त्वों को मान लिया है—प्रकृति तथा पुरुष-सत्त्व-रजस्तमो-गुणात्मिका प्रकृति नर्त्तकी की भाँति पुरुष के सामने संसार-रूपिणी माया का खेल खेल रही है. पुरुष अपने दर्पण में उस खेल को देख रहा है। प्रकृति के इस मायात्मक चित्र को दूर कर, इस अज्ञान-रचित आवरण को हटा कर, जब पुरुष प्रकृति से अपनी स्वतन्त्रता की उपलब्धि करता है, तब माया का खेल बन्द हो जाता है। वह तत्काल ही दुःख क्लेश जन्म मृत्यु से छूट जाता है। बुद्ध ने इन तत्त्वों का उल्लेख नहीं किया—उनकी सृष्टि में पुरुष की सत्ता नहीं है—वे भी कहते हैं कि सभी अनित्य है, सभी क्षयशील हैं, सभी दुःखमय हैं: परन्तु इस परिवर्तनशील नाम-रूप के पश्चात् कोई सत्य वस्तु नहीं है। बुद्ध का गम्य स्थान है निर्वाण। उसके लिए न वेदान्त का ब्रह्म-ज्ञान, न सांख्य का आत्मज्ञान है। केवल निर्वाण—बुत जाना—जीवात्मा के अस्तित्व का लोप होना। बुद्ध ने जो कुछ कहा हो, परन्तु उनके अनुचरों ने उनके नाम से जिस दर्शन का प्रचार किया वह शून्य-वाद के सिवा और कुछ नहीं है। मैं मिथ्या हूँ, जगत भी मिथ्या है, और जो जगत का मूल कारण ईश्वर कहा जाता है वह भी मिथ्या है।

थोड़े से दार्शनिक तत्त्वों तथा विशेष विधानों को छोड़ कर बौद्ध धर्म मनुष्यप्रकृति-मूलक धर्मनीति के सिवा और कुछ नहीं। न्याय, सत्य, अहिंसा इत्यादि नीतियों से मनुष्य को सद्-गति प्राप्त होती है। यह समझ कर बुद्धदेव ने अपने धर्म में इन नीतियों का प्रधान्य दिखाया है। ऐहिक तथा पारत्रिक कल्याण की कामना से याग-यज्ञादि के अनुष्ठान के द्वारा देवताओं का तृप्ति-साधन व्यर्थ है, और आत्मबल के द्वारा इन्द्रियों का दमन तथा चरित्र का संशोधन कर धर्म का अनुष्ठान करना ही

अभीष्ट लाभ का एकमात्र द्वार है। इस विषय पर बुद्धदेव ने साधारण मनुष्यों की आँखें खोल दीं। उनका धर्मोपदेश जैसा महत्वपूर्ण है, उनका साधु आचरण उससे भी अधिक महत्व-पूर्ण है।

बौद्ध नीति-शास्त्र एक अराजक देश है—इसमें विश्व संसार अच्छेद्य नियमों से आबद्ध है, पर इसका कोई नियामक नहीं है। फलाफल की व्यवस्था है, परन्तु कोई व्यवस्थापक पुरुष नहीं है, न पुण्य का कोई पुरस्कार देनेवाला है, न पाप का कोई दण्ड-दाता है। याग यज्ञ इत्यादि निष्फल आराधनाएं अनावश्यक हैं। इस धर्म में साधन ही प्रधान कर्तव्य है—भजन की कोई विधि नहीं है। बौद्ध धर्म का उपदेश्य यह है कि आत्म-प्रभाव से इन्द्रियगण पर जय प्राप्त कर अन्तःकरण को क्लेश, हिंसा, काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य से विमुक्त करो यही बौद्ध का साधन, है, इसी से सिद्धि प्राप्त होगी। हमारी मुक्ति अपने हाथ है—अपनी ही शक्ति से यह दुस्तर भवसागर उत्तीर्ण होना पड़ेगा—दूसरा कोई पार करने वाला नहीं है। किन्तु मनुष्य अपने हृदय में हजारों आकांक्षाएं पुष्ट करता रहता है—वह असंख्य आशाओं और विश्वासों को अपने साथ रख पृथ्वी में विद्यमान है और उनकी सफलता चाहता है। अपनी दुर्बलता का ज्ञान रहने के कारण अपनी वासना की सफलता तथा विपद् और दुरवस्था से बचने के लिये वह एक महाशक्ति का आश्रय लेना चाहता है। निर्बल जीव एक सर्वशक्तिमान की कल्पना कर, उसी पर सम्पूर्णता से निर्भर हो कर शान्ति पाता है—यही मनुष्य की प्रकृति है। बौद्ध धर्म मनुष्य-प्रकृति का विरोधी है। मानव-प्रकृति का उच्छेदकारी धर्म कभी स्थायी नहीं हो सकता। वासना-विरहित मनुष्यों से मनुष्य समाज गठित नहीं हो सकता निरीश्वर धर्म अधिककाल तक ठहर नहीं सकता। हम एक ऐसे

ज्ञानमय मंङ्गलमय शक्तिमय पुरुष को चाहते हैं जो हमारी पूजा ग्रहण कर सके। हम एक ऐसा राजा चाहते हैं जो हमे सब सांसारिक विपत्तियों से बचा सके। हम ऐसा एक सखा चाहते हैं जिसके निकट अपने सब सुख दुःख का विवेदन कर हम इस लोक में सुमति और परलोक में सुगति लाभ कर सकें। इसमें संदेह नहीं कि आध्यात्मिक जगत में आत्म-प्रभाव अतीव प्रयोजनीय है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यते' परन्तु देव-प्रसाद के विना धर्म का मूल शुष्क हो जाता है। यही कारण है जिससे निरीश्वर बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि से निकाला गया।

बौद्धों ने जो नीति-मूलक धर्म स्थापित किया था उसमें यद्यपि ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकृत किया गया है तथापि देखा जाता है कि कितने बौद्ध क्षेत्रों में मूर्ति-पूजा का प्राबल्य है। जो बुद्धदेव ईश्वर का प्रसङ्ग तक मुख में लाने में हिचकते थे। उन्हीं के मार्ग पर चलनेवाले साधक उन्हीं में ईश्वरत्व का आरोप कर उन्हीं की आराधना में प्रवृत्त हुये। प्रतिमा-पूजा, बुद्ध की अस्थि दण्डादि की अर्चना, नाना प्रकार के यात्रा-महोत्सवादि विना बाधा के चलने लगे। बौद्ध-धर्म में जातिभेद नहीं था। बुद्ध का एक प्रधान शिष्य उपालि जाति का नाई था। जाति-भेद न रहने के कारण निम्न श्रेणी के लोगों को धर्म के सब विषयों पर पूरा अधिकार मिल गया। अतएव यह धर्म उनके लिये बहुत रोचक हुआ। निम्न जाति के लोग प्रायः अनार्य थे। उनके कुसंस्कारों का प्रवेश हुआ। जिन सब बौद्ध देव-देवियों की बात पहले कही गई उनमें अधिकांश की उतपत्ति अनार्य प्रभाव से हुई थी।

किसी समय बङ्गदेश में बौद्ध धर्म का प्राबल्य था। सप्तम शतक के प्रारम्भ में ह्वेनसांग ने इस देश में ११५०० बौद्ध पुरोहितों को देखा था। सम्भव है कि इतने पुरोहितों के असंख्य

शिष्य थे पाल राजाओं के समय में भी बौद्ध धर्म वङ्गदेश में प्रबल था।

वङ्ग देश में अभी तक हर साल चैत्र महीने में धर्म महाराज की पूजा हुआ करती है। पचास वर्ष पहले धर्म महाराज डोम, कपाली, हाड़ी इत्यादि वङ्गीय अन्त्यज जातियों के देवता थे। इनकी पूजा बौद्ध धर्म की विकृति तथा रूपान्तर है। इस धर्म-देवता के पुरोहित लोग भी अन्त्यज जाति के होते थे। परन्तु हिन्दू धर्म की अद्‌भुत् शोषण शक्ति है। इसी अपना-लेने की शक्ति से ही वह बौद्ध धर्म को भारतवर्ष से निकाल सका और अपने को पुनरुज्जीवित कर सका। साधारण लोगों का झुकाव जिधर है उसका निर्णय कर वह अपने नूतन शरीर का गठन करता गया। आधुनिक समय में भी देखिये सत्यनारायण जी की पूजा—जब देखा गया कि साधारण लोगों का झुकाव मुसलमान धर्म के प्रति हो रहा है, तभी यह पूजा-पद्धति हिन्दू समाज में प्रतिष्ठित हुई। इससे बहुत हिन्दू मुसलमान होते होते बच गये। इसी प्रकार हिन्दू धर्म ने बौद्‌ध धर्म के अनेक व्यवहारों को अपना कर उन्हें अपने ढङ्ग से गढ़ लिया था। एक ओर हम देखते हैं कि बौद्ध लोग निरीश्वरवादी हैं और देवता के प्रसाद से पराङ्‌मुख हैं, दूसरी ओर देखा जाता है कि वे मनुष्य-पूजा तथा मूर्त्ति-पूजा के आदि गुरु हैं। बुद्धदेव के पृथ्वी से अन्तर्हित होने के अल्प समय के ही बाद भारतवर्ष की एक सीमा से दूसरी सीमा तक सैकड़ों मंदिर हज़ारों देव-देवियों की प्रस्तर मूर्त्तियों से भर गये हैं। इलोरा, अजन्ता, खण्डगिरि इस बात की गवाही देते हैं। बुद्ध-गया की देवी और वागीश्वरी देवी वैशाली के ध्यानी बुद्ध अमिताभ और बोधिसत्व अवलोकितेश्वर, नालन्द विहार के अवलोकितेश्वर, तारा, त्रिशिरा, बज्रवराही, वागेश्वरी इत्यादि और अनेक स्थानों में अनेक देव-देवियों की मूर्त्तियाँ तथा मंदिर

आज भी देखे जाते हैं। जो धर्म ईश्वर के अनुग्रह से विच्छिन्न है, जो धर्म केवल आत्मप्रभाव के आधार पर प्रतिष्ठित है और जिस धर्म में अतिशय कठोर साधना के सिवा और कुछ भी नहीं है, उस धर्म का इस प्रकार का विचित्र परिणाम अवश्यम्भावी है।

हमारे देखने में आता है कि बौद्ध धर्म का साधन क्रमशः उच्छृङ्खलता और यथेच्छाचारिता में परिणत हो गया। कृत्रिम उपाय से सिद्धि लाभ करने की चेष्टा होने लगी। कुछ काल के बाद बौद्ध धर्म की सीमा के भीतर विकट वीभत्स तांत्रिक क्रियाकाण्ड का प्रवेश हुआ। पहले ही कहा गया है कि बुद्धदेव अपने समय के धर्म विश्वास के विरुद्ध खड़े हुये थे। उन्होंने अपना धर्ममत क्रियाकाण्ड के उपदेश-दाता ब्राह्मणों के विरुद्ध प्रचलित किया था। उनका सरल मत उस समय के साधारण लोगों की ग्राम्य भाषा में सब जातियों और सब श्रेणियों के लोगों में प्रचलित किया गया था। पहले निम्न श्रेणी के लोगों को शास्त्रादि अध्ययन करने का अधिकार नहीं था, अतएव वे धर्म के मूल तत्त्वों से वंचित रहते थे; परन्तु अब इस नये धर्म के तत्त्वों के जानने का अधिकार सब श्रेणियों के लोगों को मिल गया। वङ्गदेश की धर्म-पूजा को भी उस देश के हिन्दू समाज ने परिवर्तन कर अपने अंक का एक अंश बना लिया। महाराज धर्मपाल के समय रामाइ पण्डित नाम का एक डोम पण्डित था। उसकी रचित धर्म-पूजा पद्धति 'शून्य पुराण' नाम से परिचित है। उसके शून्यवाद में बौद्ध धर्म की ही बातें हैं। धर्म के मंदिरों में शीतला देवी की मूर्त्ति प्रायः पायी जाती है। यह देवी बौद्ध हारिती देवी की याद दिलाती है। बौद्ध देवताओं की पूजा का एक उपकरण है चूना। परन्तु हिन्दू देव-देवियों की पूजा में कभी चूना का व्यवहार नहीं होता। इस धर्म-पूजा में चूना लगता है अतएव यह धर्म-पूजा मूल में बौद्ध पूजा है।

बुद्ध, धर्म और संघ ये बौद्ध धर्म के त्रिरत्न हैं। जब वङ्गदेश में बौद्ध धर्म का अनादर हो गया, तब उस देश के बौद्ध सम्प्रदाय बौद्ध नाम से अपना परिचय नहीं देते थे। वे अपने को सद्धर्मी कहते थे, और बुद्ध के नाम का गोपन कर उन्हें धर्म कहते थे। सद्धर्म शब्द त्रिरत्न के द्वितीय रत्न के नाम का रूपान्तर है। इसी धर्म की पूजा कुछ परिवर्तित आकार में अभी तक वङ्ग देश में 'नील' और 'चड़क' नाम से जारी है।

सत्य प्रतिष्ठा

जो कुछ तीनों काल में सत् अर्थात् विद्यमान है, वही सत्य है ; जिसका ध्वंस या उत्पत्ति नहीं है वही सत्य है ; जिसमें किसी प्रकार का विकार या परिवर्तन नहीं है वही सत्य है। यह जगत जिस पर स्थिर है, जिससे निकला है और फिर जिसमें विलीन हो जायगा वही सत्य है। ये जितने पदार्थ देखे जा रहे हैं, इनके लय हो जाने के पीछे भी जो कुछ स्थिर रहेगा, वही सत्य है। सत्य ही जीव जगत् का यथार्थ स्वरूप है। सत्य ही अभय तथा अमृत है। सत्य ही आनन्दमय ब्रह्म अथवा भगवान् है। जितने दिन मनुष्य उस सत्य की उपलब्धि नहीं कर सकेगा उतने ही दिन वह अपूर्ण रहेगा, उतने ही दिन शोक तथा दुःख के हाथ से उसका परित्राण नहीं है, उसका अभाव पूर्ण नहीं होगा—आनन्द का सन्धान नहीं मिलेगा—बार बार जन्म-मृत्यु होने की धारा बन्द नहीं होगी।

इस सत्य पदार्थ का लाभ करना कठिन काम नहीं। यह पदार्थ भली भाँति प्रकट है, सुस्पष्ट है और बाहर तथा भीतर सर्वत्र विराजमान है। सांसारिक द्रव्य के उपार्जन के निमित्त जितनी चेष्टा तथा दृढ़ता का प्रयोजन होता है, सत्य-वस्तु के पाने के लिये उतनी का भी प्रयोजन नहीं होता। जो लोग इसे बहुत दुर्लभ मानते हैं, और समझते हैं कि यह कठोर तपस्या के द्वारा पाया जाता है, वे भी सत्य से बहुत दूर नहीं हैं।

जब बहुत से लोग इस नित्य-सिद्ध, सहज सत्य-वस्तु को बहुत दूर रख देते हैं, तभी कलियुग का प्रभाव फैलता है। परन्तु सत्ययुग में ऐसा नहीं था ; तब अधिकांश लोग थोड़ा-बहुत सत्यदर्शी थे, सत्य को ढूंढ़ते थे तथा सत्य के प्रति झुकते थे। सत्य से मुँह मोड़ने से जन्म-मृत्यु का चक्र सहना पड़ता है। मृत्यु

ही कलन वा कलि है। जिस युग के मनुष्य इस कलन वा मृत्यु की ओर वेग से बढ़ते हैं, उसी युग का नाम है कलियुग। यद्यपि इस समय कलियुग के ही लक्षण विशेषता से प्रकाशित हैं, तथापि जानिए कि जैसे अति अशुभ फल के देने वाले शनि या राहु की दशा के भीतर जब बृहस्पति की अन्तर्दशा आ जाती है तब शुभ फल मिलता है, वैसे ही प्रबल कलि के अन्तर अब सत्य की दशा आ पहुँची है। क्या आप यथार्थ ही सत्ययुग के जीव होना चाहते हैं?

धीरता से सुनिए और समझने की चेष्टा कीजिए। आप सामने एक वृक्ष देख रहे हैं। "वृक्ष" यह "नाम" है, डाल पत्तों से बना हुआ जो आकार है वह है "रूप"। साधारण में लोगों को इन्हीं दोनों का ज्ञान होता है—एक नाम, दूसरा रूप। आज-कल के जीवों को नाम तथा रूप का मोह है। इसीलिये वे सत्य से वञ्चित हैं। नाम तथा रूप के उपरान्त देखने या समझने के कुछ और भी विषय हैं। वे ये हैं—सत्ता, प्रकाश तथा आनन्द। "वृक्ष है" इस वाक्य में "है" अंश का नाम है सत्ता—सत् वा अस्ति। वृक्ष है, यह तो आप समझते हैं, अर्थात् वृक्ष नाम की एक वस्तु आपकी समझ में आती है। इस "समझ में आने" का नाम है प्रकाश—चित् वा "भाति"। आनन्द-अंश की आलोचना अभी अलग रहने दीजिए—सब एक ही साथ समझने की चेष्टा करने से ठीक समझा नहीं जायगा—गड़बड़ हो जायगा। अथवा अस्ति, भाति का पता लगाने से "प्रिय" (आनन्द) आप से आप मुट्ठी में आ जायगा। फिर देखो—

जब हम कहते हैं कि "जगत् है" तब हमारा ध्यान "अस्ति" की तरफ है। जगत् का होना ही अस्ति है। जब हम कहते हैं कि जगत् प्रकाशित है तब हमारा ध्यान "भाति" पर है—जगत् का ज्ञान होना ही भाति है। इसी प्रकार "मैं हूँ" यह अस्ति है।

"मैं जानता हूँ कि मैं हूँ" यह भाति या चित् है। इसी प्रकार सर्वत्र जानिए।

अब सत्य शब्द का अर्थ कीजिए—"अस्तीति भातीति च सत्यम्"—जो कुछ है तथा प्रकाशित होता है उसका नाम है सत्य। अतएव समझ गये—सत्य वस्तु सर्वत्र पूर्णता से विराजमान है। जहाँ नाम और रूप हैं, वहीं सत्य है। जहाँ सत्य नहीं, वहाँ नाम-रूप नहीं रह सकते। यद्यपि नाम-रूप की ही सहायता से सत्य को समझना होगा, तथापि स्मरण रखिए कि यह तो निश्चित है कि जहां नाम-रूप हैं वहीं सत्य है; परन्तु यह निश्चित नहीं कि जहाँ सत्य है वहीं नाम-रूप हैं; क्योंकि नाम-रूप को छोड़ कर सत्य रह सकता है, परन्तु सत्य को छोड़ कर नाम-रूप नहीं रह सकते। सत्य आधार है, नाम-रूप आधेय हैं; सत्य आश्रय है, नाम-रूप आश्रित हैं।

अतएव दो प्रकार की वस्तुएं पायी गयीं—सत्य और नाम-रूप। नाम-रूप खण्ड खण्ड वस्तुएं हैं, परन्तु सत्य अखण्ड है, जैसे विशाल समुद्र के ऊपर छोटे-बड़े बर्फ के टुकड़े रह जाते हैं; परन्तु जल ही उनका उपादान है और जल ही उनका आश्रय है, पीछे वे पिघल कर उसी विपुल जल-राशि में मिल जाते हैं। उसी प्रकार ये नाना नाम-रूप (अर्थात् जीव तथा जगत्) अखण्ड सत्य-समुद्र में बह रहे हैं, फूट रहे हैं, फिर उसके साथ मिल जाते हैं।

बात यह है कि साधारण लोगों को सत्यांश का बोध नहीं होता, केवल नाम-रूप अंश का ही ज्ञान होता है। मानो नाम-रूप ने सत्य को घेर कर छिपा रखा है। यह नाम-रूप अंश परिवर्तनशील है, इसका ध्वंस निश्चित है। जब तक आप केवल इसी की ओर अपनी दृष्टि को लगा रखियेगा तब तक शोक, मोह, जन्म, मृत्यु इत्यादि सांसारिक वासनाएँ दूर नहीं

होंगी, क्योंकि जिनकी जैसी चिन्ता है उनकी वैसी ही सिद्धि होती है।

सत्य वस्तु का जो स्वरूप आपने उपर्युक्त कथन से समझा, उससे क्या यही मालूम होता है कि वह दुर्लभ, अप्रकाश अथवा कठोर यत्न से मिलनेवाला है? यद्यपि आप केवल नाम-रूप अंश को ही जान रहे हैं, तो भी नाम-रूप के साथ ही साथ अस्ति-भाति वा सत्यांश को भी प्रत्यक्ष कर रहे हैं, यह निश्चय है। परन्तु यह आपकी समझ में नहीं आता कि सत्य को ही हर घड़ी प्रत्यक्ष कर रहे हैं। "यह जो देखते हैं, तो भी समझ में नहीं आता; सामने है, तो भी पकड़ा नहीं जाता"—यही है मोह वा अज्ञान। अब समझिए—आपके जितने दुःख, कष्ट, अशान्ति, सन्ताप हैं, उन सभों का मूल है अज्ञान। यदि किसी प्रकार से आपको इस सुप्रकाश सत्य-वस्तु की धारणा हो, तभी जितने दुःख, अशान्तियाँ हैं वे सब दूर हो जायँगी, अज्ञान भाग जायगा। क्या आप यथार्थ ही सत्य को ढूँढ रहे हैं, शान्ति को चाहते हैं?

देखिये—यदि आप अपने नाम और चेहरे को छोड़ दें अर्थात् भूल जायें, तो भी आप में जो "हम" है, वह नहीं छूटता। क्यों, यह ठीक है या नहीं? उसी प्रकार जगत् के नाम-रूप हैं, उनको छोड़ने से सत्य-वस्तु ही नित्य वर्तमान रहती है। प्रश्न यह है कि किस उपाय से इनको छुड़ावें? जब तक इनको निकालने की चेष्टा कीजियेगा, जब तक इनकी ओर से दृष्टि को फिराने की चेष्टा कीजियेगा, तब तक ये नहीं छूटेंगे, तब तक इनको आप छुड़ा नहीं सकियेगा, यह निश्चय जानिये।

एक बार सोच कर देखिए तो जितने ये नाम-रूप हैं, किसके हैं? नाम-रूप के द्वारा कौन प्रकाशित हो रहा है? ये नाम-रूप, यह हर घड़ी का परिवर्तन, यह चञ्चलता, यह क्रिया-शक्ति एक मात्र

सत्य की ही लीला या इच्छा है। इसको समझने की चेष्टा कीजिए। सुप्रकट सत्य-वस्तु आपके पास अप्रकट होने पर भी, जो अंश आपकी धारणा के योग्य है, वह अंश जब एक प्रकार से सत्य का ही विकास है, तब नाम-रूप को ही आप सत्य क्यों न मानें? जैसे जल घना हो कर वर्फ होता है, वैसे सत्य ही नाम-रूप बन कर प्रकाशित होता रहा है। इस बात को खूब दृढ़ता से मन में रखिए और इस बात पर विश्वास रखिए। आप लड़कपन से ही सुनते आते हैं कि भगवान् सर्वव्यापी हैं और सर्वभूत में विराजमान हैं। इस जानी हुई बात को भली भाँति समझने की चेष्टा कीजिये। सत्य आप ही आप हाथ लग जायगा, नाम-रूप कहीं से कहीं हो जायँगे। जिसको निकाल कर जिस वस्तु के पाने की चेष्टा कर रहे थे, उसी को वही वस्तु मान लीजिए। तब देखियेगा कि यथार्थ वस्तु प्रकाशित हो जायेगी, क्योंकि सत्य के सिवा कोई भी वस्तु नहीं है। यदि सत्य का परित्याग कर नाम-रूप किसी पृथक् स्थान में रहते, तो उनको निकाल कर सत्य को धारण किये रहना सम्भव था। जब नाम-रूप सत्य के ही हैं, तब उनको निकालने का क्या प्रयोजन है? इतने दिन आप बच्चे थे, इसी लिये सब बातों को समझते नहीं थे, अब सत्य को ग्रहण कीजिए, सत्य मिलेगा। आपका जीवन सार्थक होगा।

सच कहता हूँ—सौगन्द खाकर कहता हूँ, वे मिल सकते हैं, वे देखे जा सकते हैं, वे भोग किये जा सकते हैं। हाँ आप ही लोगों की तरह घोर संसारी मोहाच्छन्न लोग भी उनको देख सकते हैं। भगवान् ने अपने मुँह से कहा है कि अति दुराचारी व्यक्ति भी मुझे पा सकता है।

सत्य की प्रतिष्ठा के लिये किसी प्रकार की नयी तैयारी, नयी चेष्टा का प्रयोजन नहीं होता। आप जैसे हैं—जिस अवस्था के

भीतर हो कर आप का जीवन-प्रवाह चल रहा है, ठीक उसी अवस्था के भीतर रह कर ही आप उनको पा सकते हैं—यदि आप चाहें तो। सूर्य को देखने के लिये क्या कोई हाथ में लालटेन ले कर दौड़ता है? वह स्वप्रकाश है! सभी वस्तु उन्हीं के प्रकाश से प्रकाशित है—"तमेव भान्तमनुभातिसर्वम्"। क्या उनके देखने के लिये नूतन आयोजन कीजियेगा?

पहले उन्हें देखिये, देखने से ही मुग्ध हो जाइयेगा—उनसे प्रेम किये विना आप से रहा नहीं जायगा—उनका स्वरूप ही ऐसा है—फिर आपको वे जैसा करने को कहेंगे वैसा ही करना। यदि उनकी इच्छा हो कि आप संसार को, स्त्री पुत्र को, अपने साथ रखिये, तो वैसा ही कीजियेगा। यदि वे सन्यास लेने को कहें तो सन्यासी वनिये। उनको देखने के पहले ही क्यों भेस वनाने लग जाते हो?

भगवान् को देख चुकने के पीछे मनुष्य में जितने वाहरी लक्षण प्रकाशित होते हैं, उनको यदि आप पहले से ही अपने में प्रकाशित करना चाहें और उन्हीं से मुग्ध रहें—यदि अपने को साधु वनाने के उद्योग में आप सत्य वस्तु से दूर रहें—तो उससे वढ़कर दुःख, उससे वढ़कर अपने को ठगना और क्या हो सकता है?

आप भगवान् को क्यों नहीं पाते हैं? इसलिये कि आप चाहते नहीं हैं। जिस मुहूर्त में आप उनको चाहियेगा उसी मुहूर्त में आप उनको पाइयेगा, थोड़ी भी देर न होगी। सत्य के आलोक से सारा जगत् प्रकाशित हो रहा है और आप आखें वन्द कर, अपने दरवाज़ों को वन्द कर पूछ रहे हैं कि प्रकाश कहाँ है? तव, प्यारे, आप उन्हें कैसे देखियेगा? किवाड़ खोलिए, आँखें खोलिए,—देखिए, सच ही "मैं" आप के मुँह की ओर देख रहा हूँ।

अब तक जिस वस्तु को आपने सत्य मान कर जाना, उनका अपना कोई नाम वा रूप नहीं है, तो भी सारा संसार उन्हीं का रूप है, जितने नाम हैं सब उन्हीं के नाम हैं। "सब रूपों में रूप मिला कर वह स्वयं निराकार है"। वही सत्य है—सौर-पंथियों का सूर्य, गाणपत्यों का गणेश, वैष्णवों का विष्णु, शैवों का शिव, शाक्तों की शक्ति, ब्राह्मों का ब्रह्म। इसी प्रकार बौद्ध, जैन, मुसलमान, ईसाई इत्यादि सम्प्रदायवाले जितने हैं, एकमात्र इसी सत्य-वस्तु के ढूँढ़नेवाले हैं। यद्यपि बाहिरी लक्षणों को देखने से ये सम्प्रदाय आप उसमें भेद-युक्त हैं और इनमें भिन्न भिन्न आचार पाये जाते हैं, तथापि ये, ज्ञान से हो चाहे अज्ञान से, सत्य की ओर दौड़ रहे हैं। तब तक विरोध का भाव पोषण करते हैं, जब तक सत्य हृदयंगम नहीं होता। इस सत्यरूप परम धन में किसी का ख़ास अधिकार नहीं है। सब इसके समान अधिकारी हैं। सभी सम्प्रदायवाले उसको पा सकते हैं। सब प्रकार की साधन-प्रणाली ही सत्य के खोलने में समर्थ है। ऐसा कोई विशेष नियम नहीं है जिसका अवलम्बन न करने से सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। सत्य तो सब के निकट पूर्णता से विराजमान है। केवल इतना स्मरण रखना चाहिए कि जो जिस पथ को ग्रहण कर सत्य-लाभ के द्वारा धन्य हुआ, कदाचित् वह उसी पथ को सुगम कहता है और उसके अनुगामी लोग इसी बात की श्लाघा करते रहते हैं।

परन्तु एक बात भली भाँति प्रणिधान करनेयोग्य है—जितने ही प्रकार के रास्ते हों, जितने ही प्रकार की साधन-प्रणालियाँ हों, जब तक वे सुप्रकाश सत्य को प्रकाशित न करें, जब तक वे इस निकट में रहनेवाले सत्य के पास न पहुँचावें, तब तक वे अपूर्ण हैं और यथेष्ट फल की देनेवाली नहीं हैं। फिर दूसरी ओर से देखिये—कोई मनुष्य, चाहे आप सिद्ध

शक्तिमान् महापुरुष क्यों न हों, चाहे आप त्यागी संन्यासी परमहंस क्यों न हों, चाहे आप भक्तिमान् कर्म-साधक क्यों न हों, जब तक आप सुप्रकाश तथा निकटस्थ सरल तथा सहज सत्य-वस्तु की उपलब्धि नहीं कर सकें, तब तक आपके जीवन की चरितार्थता प्राप्त नहीं होगी—सहस्र कण्ठ की जय-ध्वनि आपके हृदय की गुप्त दीनता को विदूरित नहीं कर सकेगी। अपना विवेक आपको निश्चित कह देगा आप सत्य से बहुत दूर हैं।

आपने सत्य-लाभ किया है या नहीं, एक ही लक्षण से समझ जाइयेगा। वह लक्षण है मृत्यु का संस्कार। मृत्यु का ज्ञान सब जीवों में समान पाया जाता है। जिस पुरुष ने सत्य को पाया है, उसमें मृत्यु-ज्ञान सम्पूर्ण लुप्त हो जाता है। मरण नाम की जो कुछ वस्तु है, वह उनके बोध में फिर उपस्थित नहीं होती, क्योंकि सत्य ही तो अमृत है। जिसने अमृत का पान किया, उसे मृत्यु-भय कैसे रहेगा? जब आप काल को वंचित कर सकियेगा, तब जानियेगा कि आपने सत्य-लाभ किया है।

जब तक देखियेगा कि आप की ज्ञानचर्चा इस सरल सत्य को प्रकट न करे, जब तक देखियेगा कि आप की प्रेमभक्ति के पवित्र अश्रुबिन्दु इस सत्य वस्तु के चरणों पर भेंट न किये जायँ, जब तक देखियेगा कि आप की योग्य तपस्या का लक्षण इस सुप्रकट सत्य की ओर स्थापित न हो, जब तक देखियेगा कि आप का कर्म-व्यापार—पूजा होमादि—इस प्रत्यक्ष सत्य पर अर्पित नहीं हुआ, जब तक देखियेगा कि आप का जप, भजन, व्याकुल पुकार सामनेवाले सत्य को जगा नहीं सके, तब तक समझियेगा कि आप सत्य से बहुत दूर रह गये हैं। जितने दिन साधना अज्ञात भगवान के उद्देश से अनुष्ठित होती है उतने दिन,

साधक की चाल धीमी रहती है। स्मरण रखिये कि साधन-राज्य में उद्देश वा अनुमान का कोई स्थान नहीं। प्रत्यक्ष ही साधन के प्राण हैं। साधन करते करते किसी न किसी दिन फल-लाभ होगा—इस प्रकार के विश्वास से धैर्य के साथ साधना करनेवाले मनुष्य आज कल कम देखे जाते हैं। इस रास्ते में प्रत्येक पादक्षेप में प्रत्यक्षता की आवश्यकता है। सत्य ही इस प्रत्यक्षता को ला देता है।

सत्य ही साधना का एक मात्र बल है। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"—दुर्बल मनुष्य आत्म-लाभ नहीं कर सकता। संदेह तथा अविश्वास येही दो सर्वप्रधान दुर्बलतायें हैं धर्म राज्य के प्रवेश के पथ में—येही दो बड़ी प्रबल बाधायें हैं। सत्य-प्रतिष्ठा ही इन दुर्बलताओं को हटाने का अव्यर्थ उपाय है। योग-दर्शन में एक सूत्र है—"सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्"। सत्य पर प्रतिष्ठित होने से कर्मसमूह का यथार्थ फल-लाभ होता है, अर्थात् एक-मात्र ब्रह्म ही सर्वत्र विराजमान हैं, और सर्वदा परिवर्तनशील नाम-रूप सत्य के ही बाहरी विकाश हैं यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि प्रत्येक कर्म में इन बातों का ज्ञान हो तो उन कर्मों से फल-लाभ होता है। जो मनुष्य सत्य पर प्रतिष्ठित हैं उन के आहार-विहारादि साधारण काम भी साधना में परिणत होते हैं; और सत्य-विमुख मनुष्य के ध्यान धारणा समाधि भी साधारण कामों से अधिक नहीं हैं।

बहुत से लोग कहते हैं कि सत्य-प्रतिष्ठा है कायमनोवाक्य से सत्य का अनुसरण करना, अर्थात् यह है काया में, मन में, तथा वाक्य में एक ही प्रकार के आचरण का नाम। सत्य-प्रतिष्ठा का यह अर्थ बहुत मनोरम है, इस में कुछ संदेह नहीं। परन्तु यह सत्य-प्रतिष्ठा का बाहरी लक्षण है। जो सुप्रकट सच्चिदानन्द-स्वरूप सत्य सर्वत्र पूर्णता से विराजमान है; जो

सत्य उपनिषद् के प्रमाण का विषय है, उस सत्य में यदि कोई प्रतिष्ठित हो ; यदि किसी का प्रत्येक काम उसी सत्य को लक्ष्य कर के सम्पन्न हो, तभी उसके वाक्य तथा आचरण सत्य होंगे। महा-सत्य पर जिसकी दृष्टि लगी हुई है, प्रत्येक काम में जो सत्य ही का दर्शन करता है, क्या उस का कोई आचरण असत्य हो सकता है? दूसरी ओर से देखिये—जितने दिन इस सत्य का पता नहीं मिलता, उतने दिन किसी का आचरण कायमनोवाक्य से पूरा सत्यमय नहीं हो सकता।

उपनिषद् में सत्य शब्द का अर्थ इस प्रकार से किया गया है। 'सत्' तथा 'य', इन वर्णों से यह शब्द निष्पन्न हुआ है—'स' वर्ण का अर्थ है अमृत, 'त' वर्ण का अर्थ है नियमन। जो मृत्यु तथा अमृत का नियामक अर्थात् नियम करनेवाला है वही सत्य है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही अभय है।

शिव, दुर्गा, विष्णु, कृष्ण, काली इत्यादि शब्द सत्य के ही बोधक हैं। जिस हेतु संसार के सारे नाम तथा रूप के साथ साथ अमृतमय ब्रह्म की सत्ता विराजमान है, उसी हेतु इन सब देव-देवियों के नाम तथा रूप केवल सत्य के ही विकाश हैं। इन नामों की सहायता से मनुष्य पहले पहल जितने सहज से सत्याभिमुखी हो सकता है, वह मानों फल फूल वृक्ष पहाड़ इत्यादि के नामों तथा रूपों की सहायता से सत्य को पा नहीं सकता। इसी लिए साधना-जगत् में इन सब नामों तथा रूपों में से विशेषता से किसी एक का आश्रय करके अग्रसर होना पड़ता है; परन्तु जब तक मनुष्य इन सब मूर्तियों को विश्वव्यापी चैतन्य-सत्ता का केन्द्र स्वरूप न समझे, तब तक मृत्युभय दूर नहीं हो सकता—अमृत-लाभ नहीं होता। जिनको किसी विशेष मूर्त्ति का आश्रय न कर भगवान की चिन्ता करने का अभ्यास है, उनको सत्य-प्रतिष्ठा के लिये उन

मूर्तियों की आवश्यकता नहीं होती। वे इस परिदृश्यमान विश्व को ही भगवान् की स्थूल मूर्ति मान कर इसी के आश्रय से सत्याभिमुखी हो सकते हैं। प्राचीन काल में ऋषिलोग इसी पथ से सत्य को पाते थे। गीता में भी विश्वरूप की उपासना की श्रेष्ठता विशेषकर वर्णित है। यथार्थ बात यह है कि सच्चिदानन्द या अस्ति भाति प्रिय, अर्थात् सत्य, ही भगवान् का स्वरूप है। जो जिस प्रकार से साधन करे उसमें कुछ घटी बढ़ी नहीं है, पर सत्य की ओर दृष्टि रखने से सब प्रकार का साधन सफल होगा।

अब प्रश्न यह है कि किस उपाय से इस सत्य का लाभ हो सकता है? क्यों, पहले ही तो सत्य-वस्तु का स्वरूप विशेषता से दिखाया गया है, जो बिना यत्न से पायी जा सकती है। ऐसी सहज वस्तु जो है, उस का पाना ही क्या है? आप तो उनको हर घड़ी ही पा रहे हैं। यह नहीं समझते कि यद्यपि आप उनको देख कर भी नहीं देखते, समझ कर भी नहीं समझते, यद्यपि आप ने उनका इतना अनादर किया है, तो भी उन्होंने आपको एक मुहूर्त के लिये परित्याग नहीं किया। वे तो आप को अच्युत (यानी जो कभी च्युत नहीं होते अर्थात् सर्वदा वर्तमान रहते हैं ऐसे) सखा हैं, आपके परम बन्धु हैं। वे हैं आपके पिता-माता, वे हैं आपके प्राण, वे हैं आपका मन, वे हैं आप की इन्द्रियाँ, वे हैं आप के भूमि-जगत्, वे तो आप के सब हैं। भाई, आप में जो "हम" है, वह भी वही हैं। तो फिर उनको पाना क्या हो सकता? केवल इतना ही देखिये कि सत्य ही आप का सब कुछ है। आप के ऊपर नीचे चारों ओर, भीतर बाहर सब स्थानों में आप के नितान्त बन्धु सत्य-देव विराजमान हैं। नित्य यह देखने का अभ्यास कीजिये। इसी का नाम है सत्य प्रतिष्ठा।

अनुसन्धान करनेवाली आँखों को बन्द कीजिये 'कहाँ तुम हो' इस प्रकार से पुकारता हुआ अन्वेषण मत कीजिये। "साधन से तुम को पायेंगे" इस प्रकार की झूठी धारणा को मन से दूर कीजिये। केवल यही देखिये सब रूपों में सत्य नित्य विराजमान है। लकड़ी, मिट्टी, पत्थर जो कुछ आप को मिले उसे हाथ से पकड़िये, और कहिये यही सत्य है, यही सत्य है, यही तुम हो, तुम को पाया है, तुम को पकड़ लिया है, मिट्टी से कहिये तुम सत्य हो, जल से कहिये तुम सत्य हो, अग्नि-देव से कहिये तुम सत्य हो, जल स्पर्श कर कहिये जल सत्य है, आकाश को देख कर कहिये आकाश सत्य है, मन से कहिये मन सत्य है।

सन्देह, अविश्वास को निकाल दीजिये। संदेह कैसे रह सकता है? आप तो नाम-रूप को अर्थात् जगत् को सत्य कह रहे हैं। यह तो कल्पना या मिथ्या नहीं है। सत्य अर्थात् "मैं" तो सर्वत्र है, कहीं भी तो उनका अभाव नहीं है। तो फिर इतने दिन आपने उन को देखा क्यों नहीं? अब देखने लगिये। जिस दिन ठीक ठीक सत्य कहा जायगा, अर्थात् आप का अविश्वासी मन मान लेगा कि जगत सत्य है, उसी दिन देखियेगा कि नाम-रूप नहीं हैं।

समझ कर देखिये कि जगत् को जगत् ही कहना भी झूठ है—सत्य कहना ही ठीक है। इतने दिन आप इसको जगत् जान कर भोग करते आये हैं। अब इसको सत्य मान कर भोग करने का अभ्यास कीजिये। बहुत दिन जगत् जान कर रूप रस गंध शब्द स्पर्श जान कर इस का भोग किया है, इसी कारण जगत् का संस्कार आपके मनमें दृढ़ हो गया है। अब इसको सत्य जान कर इसका भोग करने का अभ्यास होने से सत्य का संस्कार दृढ़ हो जायेगा। तब जिधर ताकियेगा सब सत्य ही सत्य। जीवन ऐसा प्रतीत होगा कि जैसा भगवान ने स्वयं कहा है—

यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि, सच मे ने प्रणश्यति॥

जो मुझे सर्वत्र देखता है तथा सर्वभूत को मुझमें देखता है, मैं उसकी दृष्टि के वाहर नहीं रहता, वह भी मेरी दृष्टि के वाहर नहीं रहता। आप सव कामों के भीतर उन्हें देखिये। आपके कर्म साधनामय हो जायँगे।

आप कितने ही संसारासक्त क्यों न हों, कितने ही मोहाच्छन्न क्यों न हों, आपका मन कितना ही चञ्चल क्यों न हो, इस प्रकार की सत्य-प्रतिष्ठा करने में आप असमर्थ न होंगे। वड़े दुराचारी मनुष्य को भी इसमें अधिकार है।

जव भगवान् का स्मरण कीजिएगा तव देखना कि वे आपके सामने हों। जव कातर अन्तःकरण से भगवान को वुलाइयेगा तव आपके देखने में आवेगा कि वे आप की हर एक वात को सुनने के लिए मौजूद हैं। जव उनको प्रणाम कीजियेगा तव आपके देखने में आवेगा कि सचमुच उनके श्रीचरणों के साथ आपके मस्तक का स्पर्श हो रहा है। आप रास्ते में चलते समय देखियेगा कि आपके आस पास वे चल रहे हैं। विछौने पर शयन करते देखियेगा कि उन्हीं की गोद में आप सोये हुए हैं। भोजन करते समय देखिएगा कि अन्न के रूप में वही हैं। वायु के स्पर्श से उन्हीं के स्नेहमय आलिङ्गन का अनुभव कर पुलकित होइए। शीतल जल में नहाते हुए देखिए कि रसमय सत्य ही स्निग्ध स्पर्श से आपको पवित्र कर रहे हैं। इसी प्रकार सव जगह उनको देखने का अभ्यास कीजिए।

हृदय की वृत्तियों को भी प्रत्यक्ष भगवान् का छद्मवेश या उनकी इच्छाकृत क्षुद्रता का वेश समझने की चेष्टा कीजिए। जव काम क्रोधादि वृत्तियाँ प्रकाशित होंगी तव उनको लक्ष्य कर

सत्य-प्रतिष्ठा करने की स्वल्प चेष्टा से वृत्तियों की चञ्चलता जाती रहेगी। यदि किसी समय सत्य-प्रतिष्ठा से आपकी वृत्तियों की चञ्चलता नष्ट न हो तो निराश या अवसन्न न होइए। बारम्बार निष्फलता से ही सफलता सूचित होती है।

पहले-पहल इस प्रकार की सत्य-प्रतिष्ठा नक़ली सी मालूम हो सकती है, पर स्मरण रखिए कि इस प्रकार का सोच भूल है, क्योंकि सत्य ही सर्वत्र प्रतीयमान है। मन की इस प्रकार की प्रवञ्चना से आप लक्ष्यभ्रष्ट न होइए। जब बुद्धि के द्वारा आपको निश्चय हो गया कि भगवान् ही सब हैं, सत्य ही सब रूपों में विराजमान है तब कितना ही सन्देह आपके मन में उपस्थित क्यों न हो, उस कारण साधना से विच्युत न होइए। इस प्रकार मन के विरुद्ध सत्य-प्रतिष्ठा करते करते देखियेगा कि मन ने उसको मान लिया है।

जो संयमी साधक हैं और कठोर योगादि कार्य में निपुण हैं वे परिणाम में जिस स्थान पर आ पहुँचते हैं वह भी सर्वभूत में सत्य-दर्शन है। सर्वत्र आत्मदर्शन ही जीव की चरम उन्नति है। सब शास्त्रों ने, सब महापुरुषों ने इस एक ही सत्यवाणी का प्रचार किया है। आप पहले से ही अभ्यास-योग के द्वारा उस अवस्था को पहुँचने की चेष्टा कीजिये। इसमें किसी विशेष आयोजन की आवश्यकता नहीं। आप जिस अवस्था में हैं उसी में सत्य-दर्शनरूपी ऊँचे स्तर की साधना हो सकती है। इसका फल क्या होगा, यह लिख कर सूचित करना आवश्यक नहीं। जो इस पथ में दृढ़ अध्यवसाय के साथ चलेंगे उनको पग पग में इसकी सफलता का अनुभव होगा।

भगवान् का जो नाम जिसको प्रिय है, और शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य, मधुर इन पाँच भावों में से जिसको जो अभीष्ट

है, उसी नाम से तथा उसी भाव से अथवा सब नामों से तथा सब भावों से—जिस नाम तथा भाव से जब जीव को प्रीति होती है—उसी नाम तथा भाव से ही सर्वत्र सत्य-प्रतिष्ठा हो सकती है—ऐसा कोई निर्दिष्ट नाम या भाव नहीं है जिसके बिना सत्य-प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। पर सब नामों के साथ सत्य-शब्द उच्चारण करने से सुविधा हो सकती है। 'सत्य' शब्द के भीतर ऐसी एक शक्ति है कि उसको कई एक बार उच्चारण करने से ही एक प्रकार का सत्य-भाव अपने आप मन में उत्पन्न होता है, सब प्रकार की दुर्बलता, अविश्वास, सन्देह, अवसाद दूर हो जाते हैं। प्राणों में एक ऐसा बल उत्पन्न होता है कि सत्य सत्य कहते हुए जलती हुई आग में प्रवेश किया जा सकता है।

भक्त-श्रेष्ठ प्रह्लाद इस सत्य-प्रतिष्ठा के ही बल से विषपान कर, "मेरे प्राणरूपी नारायण सर्वत्र विराजमान हैं," इस दृढ़ विश्वास से ही आग के भीतर, जल के भीतर, हाथी के पैरों के तले गिर कर भी जीवन की रक्षा करने में समर्थ हुए थे। इस दृढ़ विश्वास ने उनकी सर्वत्र रक्षा कर स्फटिक के स्तम्भ के भीतर उनको नरसिंहमूर्ति का दर्शन कराया था। पाँच वर्ष के शिशु ध्रुव को भगवान् की सत्ता की दर्शनरूपी सत्य-प्रतिष्ठा से ही गहन अरण्य में सर्प-व्याघ्रादि हिंसक जीवों से रक्षा मिली थी। साधु महापुरुषों को जो मलिन-वस्तु में चन्दन का ज्ञान होता है, वह इस सत्य-प्रतिष्ठा का ही फल है।

वैदिक युग में ऋषि लोगों ने सूर्य, चन्द्र, आकाश, अग्नि, जल, वायु, वृक्ष, लता, फल, फूल इत्यादि पदार्थों को ब्रह्म समझ कर इनकी उपासना कर सर्वज्ञ ऋषि की पदवी को प्राप्त किया था। तब चारों ओर इस दृश्यमान् जगत् के सिवा दूसरी किसी विशेष मूर्ति का अवलम्बन कर भगवान् का भाव मन में उपस्थित नहीं करना पड़ता था। इस वर्तमान युग में स्थूल-

बुद्धि मनुष्य के साधन-पथ को सहज करने के लिए यद्यपि भगवान् अपने को नाना प्रकार के देव-देवियों के रूप से प्रकाशित करते हैं, तथापि उन विशेष रूपों का अवलम्बन कर साधना के पथ में अग्रसर हो सिद्धि-लाभ करने के लिये सब महापुरुषों ने एक-वाक्य से प्रचार किया है—" सर्वं खल्विदं ब्रह्म, आत्मैवेदं सर्वं, यदिदं किञ्च तत् सत्यम् " अर्थात् जितने ये सब प्रत्यक्ष हो रहे हैं, वे सभी सत्य हैं; सभी ब्रह्म हैं।

इसलिए हम कहते हैं कि यदि आप प्रत्यक्ष भगवान् को छोड़ कर बहुत दूर रहनेवाली किसी अनिर्दिष्ट अज्ञेय वस्तु के पीछे दौड़ें तो आपके जीवन की सफलता बहुत दूर रह जायगी, इसमें क्या सन्देह है ? यदि यथार्थ ही आपके हृदय में सत्य-लाभ की वासना जाग उठी हो, यदि यथार्थ ही आप भगवान् का दर्शन कर जीवन को धन्य करना चाहते हों, तो सर्वत्र उनको देखने का अभ्यास कीजिए। पहले उनके अस्तित्व की साधना कीजिए। कहिए—मैं कुछ नहीं जानता—तुम्हारा रूप, गुण, महत्त्व मेरा कुछ भी नहीं जाना हुआ है। मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि तुम विद्यमान हो—इसके सिवा तुम्हारे विषय में मेरा कुछ भी ज्ञान नहीं है—केवल मेरे भीतर से मानों कोई ऐसा कह रहा है कि तुम मुझे सबसे अधिक प्रिय हो—मैंने सुना है कि तुम सब मूर्तियों में सर्वत्र विराजमान हो; किस नाम से तुमको पुकारने से तुमसे उत्तर मिलेगा, किस प्रकार से तुमको बुलाने से तुम्हारा दर्शन मिलेगा, यह तो मैं नहीं जानता। तो भी तुम्हें पुकारने की—तुम्हें कभी कभी देखने की बड़ी ही प्रबल वासना होती है। तुम्हें किसी विशिष्ट मूर्ति में देख सकूँ या नहीं, इसमें मुझे कुछ लाभ या हानि नहीं है—मैं यहाँ से इसी अवस्था में, हे प्यारे, तुमको प्रणाम करता हूँ, मेरे हृदय का जो कुछ आवेदन, कातर क्रन्दन है उसे तुमको इसी स्थान से बतला कर उसके गुरु भार

को हलका करता हूँ। आओ मेरे चिरसखा, आओ अच्युत सारथि! आओ पिता, आओ मेरी मा, आओ प्रभु, इस दीन का, भक्ति-हीन का, श्रद्धाहीन का एक प्रणाम तो ग्रहण करो। मुझे अपने अस्तित्व में विश्वास-युक्त करो। मैं और कुछ नहीं चाहता, केवल सत्य ही तो तुम हो, इस बात को यथार्थ-रूप से मुझे समझने दो। तुम्हीं तो मेरे सब कुछ हो, तुम्हारे सिवा तो मेरा कहीं कुछ नहीं है, इस बात को मेरे हृदय में दृढ़ता से बैठा दो।

इस प्रकार बाहर की प्रत्येक वस्तु में, अन्तर की प्रत्येक वृत्ति में केवल उन्हीं की सत्ता की उपलब्धि करने की चेष्टा कीजिए। "यही तो तुम हो, यही तो तुम हो," कह कर सब भावों में उनको पकड़िए। क्यों न पकड़ सकियेगा? छल से मिथ्या कहिए। गड़रिया बालक की नाई "बाघ आया है," "बाघ आया है" मिथ्या कहते कहते एक दिन बाघ सचमुच आ जायगा। जब ज्ञान के द्वारा, विवेक के द्वारा, बुद्धि के द्वारा, शास्त्र तथा महापुरुषों के वाक्य के द्वारा आप बेशक समझ गये हैं कि सत्य-स्वरूप भगवान् सर्वत्र विद्यमान हैं, तब क्यों आप अपने अविश्वासी मन की प्रतारणा के द्वारा सत्य से वञ्चित होंगे? आपका मन जितना ही कहेगा यह "भगवान् नहीं, जड़ पदार्थमात्र है," उतना ही आप ज़ोर से कहिए, "नहीं, नहीं, यही तो भगवान् है, यही तो मेरा प्रियतम है। यही तो मेरा सत्य है, यह जड़ पदार्थ का छद्मवेश धारण करके खड़ा है। आपका प्रिय परिचित कोई व्यक्ति कितने ही पोशाकों का परिवर्तन करे, परन्तु जैसे वह आपसे अपने को छिपा नहीं सकता, उसी प्रकार इन नामरूपों की पोशाक पहन कर एक ही सत्य आपके निकट उपस्थित होता है। आप अपने अभीष्ट प्रियजन को पकड़ लीजिए। पोशाक का धोखा थोड़े दिन में दूर हो जायगा। कठोपनिषद् में

कहा गया है कि जो मनुष्य अस्तित्व-मात्र की उपलब्धि कर सकता है उसके निकट सारे तत्त्व आप से आप प्रकट हो जाते हैं। अस्तित्व की उपलब्धि या सत्य-प्रतिष्ठा ही साधना का आरम्भ है और वही उसका अन्त है। सब प्रकार की साधना का लक्ष्य है इस अस्तित्व में दृढ़ विश्वास। गीता का निष्काम कर्मयोग—वर्षों की कठिन तपस्या के द्वारा जिसका लाभ होता है—सत्यप्रतिष्ठ व्यक्ति के लिये अनायास-साध्य है।

भगवान् के विषय में जिसकी जैसी धारणा है—शिव, राम, काली, हरि, कृष्ण, सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार—जिसका जैसा संस्कार क्यों न हो—आपके वही सारे जगत् में विराजमान हैं—दृढ़ धारणा के द्वारा इस बात को हृदय में बैठाइये। केवल ज्ञान के द्वारा समझने से काम नहीं चलेगा। कार्य में परिचय दीजिये कि आप सर्वत्र उनकी सत्ता को स्वीकार कर रहे हैं। जब देखियेगा कि अपने अभीष्ट देव को सामने पाने से उनके प्रति जैसा व्यवहार करते, ठीक उसी प्रकार का व्यवहार विना विचार के प्रत्येक जड़ पदार्थ के साथ कर सकते हैं, इसमें किसी प्रकार की लज्जा वा संकोच उपस्थित होकर आपके सरल व्यवहार का प्रतिबन्धक नहीं होता, तब जानियेगा कि आपने सर्वत्र भगवान् की सत्ता को मान लिया है। एक ही दिन में इतना नहीं हो सकता, पर कुछ दिन की चेष्टा से निश्चित होगा। पहले पहल जड़ पदार्थों को सत्य-प्रतिष्ठा का अभ्यास करना चाहिए। नहीं तो प्राणि-जगत् की भावचञ्चलता से दृढ़ सत्य-ज्ञान का विघ्न उत्पन्न होता है।

इस सत्य-साधना के लिये किसी प्रकार के बाहरी आचार या अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं होती। सब अवस्थाओं में सब कामों के भीतर होकर यह सुसम्पन्न हो सकती है। केवल मन में, प्राणों में यह साधना चलती है। कभी प्रार्थना के

आकार में, कभी प्रणाम के आकार में, कभी पुलक, अश्रु, कम्पन इत्यादि सात्विक भावों के आकार में प्राणों का उच्छ्वास बाहर निकल पड़ेगा। यह सब लक्षण प्रकाशित होने से ही समझना चाहिए कि आपका सत्य-ज्ञान घनीभूत हो चला।

पहले ही कहा गया है कि आपने भगवान् के साथ जिस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया है, उसी सम्बन्ध के अनुसार सत्य-प्रतिष्ठा करने से वह कुछ सुगम होता है। पिता, माता, प्रभु, पुत्र, कन्या, स्वामी इत्यादि जिस प्रकार के सम्बन्ध में आपको सबसे अधिक रुचि है, उस सम्बन्ध को लेकर जड़ पदार्थों में सत्य-प्रतीति स्थापित कीजिए। "हे भाई, यही तो वे हैं—वृक्ष की पोशाक पहन कर खड़े हैं", इस प्रकार सत्य-बोध को उद्दीप्त कीजिए। (एक साधु बाबा तो वृक्ष को ही वेष्टन करके धरते थे—मा मा कह कर रोते थे—उसके स्तन-पान करते थे, धरती पर लोटते थे और ख़याल करते थे कि मैं मा की गोद में सोया हुआ हूँ, इसमें सन्देह नहीं लाते थे) सत्य-प्रतिष्ठा के पथ पर कोई विचार उठने न दीजिए। जब आपको बोध होगा कि उनका दर्शन पाया है, तत्काल सत्य-ज्ञान से उनके चरणों पर कूद पड़िए। यही तो सीधी राह है। किसी प्रकार का सन्देह या विचार उपस्थित न होने पावे, इसलिए पहले ही सत्य-वस्तु के स्वरूप की विशेष व्याख्या की गई। जो इसको बारम्बार पढ़ कर भलीभाँति समझ लेगा, उसके मन में किसी प्रकार का विचार उठने का अवसर नहीं रहेगा।

आपको इस प्रकार की सत्य-प्रतिष्ठा सदा करनी पड़ेगी, नहीं तो कुछ भी नहीं होगा, ऐसी आशंका मन में मत लाइए। "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्"—इस धर्म का अल्पमात्र भी अनुष्ठान होने से महा भय से परित्राण मिलता है। जब तक भगवान् स्मरण में न आवें तब तक आप सत्य

से निश्चित बिल्कुल रहियेगा। आप सारा दिन भगवान् को भूले हुए रहें, इसमें कुछ क्षति नहीं। परन्तु जिस मुहूर्त में वे स्मरण आवेंगे उसी मुहूर्त में आप उनके आविर्भाव की उपलब्धि करेंगे। स्मरण में आना ही उनका उपस्थित होना है। इस बात का ख़याल रखिये कि इसी रूप से वे उपस्थित होते हैं। उनके उपस्थित होने पर आप और कुछ करें चाहे न करें एक दण्डवत् तो कीजिए। याद रखना कि आप के स्मरण का मुहूर्त बिना प्रणाम के चला न जाय। पहले-पहल आप अपने अन्तर में इस प्रकार अधिक समय तक उनकी उपलब्धि नहीं कर सकियेगा, मन दूसरी तरफ़ चला जायगा। जब देखियेगा कि अन्तर का भाव विलीन हो रहा है, उसी समय सामने के किसी पदार्थ में उनको देखिये—"यही तो तुम सत्य हो, तुम ही तो सत्य हो" कह कर चौंक जाइए। तत्काल ही कातर प्रार्थना, करुण क्रन्दन, प्रणाम इत्यादि जो कुछ हो, कर लीजिए। इस प्रकार करते हुए कुछ समय के बाद अन्य-मनस्क हो जाइयेगा। कुछ हर्ज नहीं। फिर संसार के मोह में विचरण कीजिए। फिर जब स्मरण होगा, उस मुहूर्त का इसी प्रकार सद्व्यवहार कीजिए। कुछ दिन करते रहिए—देखिए क्या होता है। आप नूतन जीवन पाइयेगा। असली मनुष्य बन जाइयेगा। सुख-दुःख का मोह कट जायगा।

आपसे अधिक न हो तो चेष्टा तो हो सकती है, जिससे "विहारशय्यासनभोजनेषु," इन चार समयों में उनका एक बार दर्शन मिले। जब आप रास्ते पर चल रहे हैं—केवल टहलना ही है; जब बिछौने पर सोये हुए हैं—नींद नहीं आई; जब सिर्फ बैठे हुए हैं—कुछ काम नहीं है; जब भोजन के लिये बैठे हैं, इन चार समयों में एक बार आग्रह की दृष्टि से उनको देखिए। इस बात को मत भूलिये कि भगवान् को देखना

ही सत्य-प्रतिष्ठा है। खोजने का प्रयोजन नहीं, केवल देखिए कि वे आपके सामने हैं। टहलने के समय उनको देखते देखते, उनको अपने प्राणों की बातें कहते कहते टहलिए। शयन कर मन में ऐसी धारणा लाइए कि आप उन्हीं की गोद में सोये हुए हैं। जैसे शिशु अपनी मा की गोद में उससे लिपट कर निश्चिन्त होकर सोया रहता है, उसी प्रकार आप भी अपने कामों से थकी हुई देह को भगवान् के अङ्क में स्थापन कर निश्चिन्त मन से सोये रहिए। विश्राम के समय निरर्थक बातों में न बिता कर उन्हीं के साथ अपने सुख-दुःख की बातें सरल चित्त से कहिए। आहार के समय अन्न के रूप में वही हैं, क्षुधानिवृत्ति के रूप में वही हैं, तृप्ति के रूप में वही हैं। फिर उनको वस्तुयें उन्हीं को भक्ति के साथ अर्पण कर प्रसाद ग्रहण कीजिए। इस प्रकार के आचरणों से जीवन को साधना-मय कर डालिए।

केवल एक ही समय ध्यान-धारणा करके बाक़ी समय भगवान् को भूले रहने की अपेक्षा कर्मों से चंचल इस जीवन की यात्रा के भीतर बारम्बार उनको देखने के अभ्यास का फल अधिक है। मन चञ्चल है, इसलिये साधना नहीं हो सकती—ऐसी बात बहुत भ्रमात्मक है। चञ्चलता जैसे भगवान् को भुला देती है, वैसे ही वह संसार को भुला कर उनका स्मरण भी करा देती है। पहले चञ्चलता के भीतर से ही उनको बार बार देखिए। इस प्रकार से चञ्चलता स्वयं ही घट जायगी। यदि आप दूसरे समयों में उनको न भी देखें, अवसर के समय तो उनको ठीक ठीक देखना शुरू कीजिए। उसी से आपका जीवन मधुमय हो जायगा।

पर इस देखने के भीतर किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं रहनी चाहिये। यथार्थ में ही आप उनको सब रूपों में देख रहे

हैं, ऐसा ज्ञान सरल शिशु के ज्ञान के सदृश सन्देह तथा विचार से शून्य होना चाहिए। इसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता है या नहीं, यह आप स्वयं ही समझ जायँगे। यद्यपि पहले-पहल यह विश्वास दृढ़ न भी हो, तथापि निराश न होइए। कुछ दिन के अभ्यास से कृत्रिमता दूर हो जायगी।

साधारण दृष्टि से संसार के पदार्थ जड़ मालूम होते हैं, परन्तु सत्य-दृष्टि से यह जड़ भाव दूर हो जाता है। एक जीवन-विशिष्ट भाव—मानो सब प्राणमय है ऐसा भाव—आप के मन में उदित होगा। इसके अनन्तर यह भाव गम्भीर होने पर एक शुभ्र स्वच्छ आकाश आपके सामने प्रकाशित होगा। यह वह आकाश नहीं कि जिसको आप सदा देखते हैं—यह अन्य प्रकार की वस्तु है। यह वाक्य से समझाने की वस्तु नहीं है, आप स्वयं ही इसकी उपलब्धि कर सकियेगा। पहले जब इस आकाश का प्रत्यक्ष करना आरम्भ कीजियेगा तब यह अल्पकाल स्थायी होगा। होते होते अभ्यास घना होने से—सत्यप्रतीति स्थिर होने से—उस आकाश को स्वेच्छानुसार देख सकिएगा, स्थितिकाल भी कुछ दीर्घ होगा।

इस आकाश का नाम है चिदाकाश। इस वस्तु को प्राप्त करने से साधना वेग के साथ अग्रसर होती रहेगी। यह आपको तृष्णार्त हरिण के सदृश दौड़ा कर ले चलेगा, क्योंकि वह ऐसा लोभनीय है कि एक बार के उदय से वह हृदय के सब प्रकार के सन्तापों को दूर कर देता है। प्राणों में एक अनुपम निर्मल शान्ति फूटती है। ऐसा अनुभव होता है कि यदि यह वस्तु सदा सामने रहे तो सहज में ही जगत् को छोड़ कर, संसार छोड़कर इसी को लेकर रहा जा सकता है। जब तक इस प्रकार का प्रत्यक्ष न हो, जब तक साधना केवल अनुमान पर चलती रहती है, तभी तक वह जीवन-हीन कर्म सा मालूम

होता है। किन्तु कुछ ही प्रयत्न होने से वह सजीव कर्म हो जाता है। योगशास्त्र भी यही कहता है—अलब्धभूमिकत्व साधना का अन्तराय है।

उस आकाश का प्रकाश होने से आपको बिन्दु-मात्र संशय का हेतु नहीं रहेगा। उसी को भगवान् जान कर व्यवहार करते रहिये। हृदय के जितने आवेदन-निवेदन हों उन्हीं के चरणों पर उपस्थित करने में द्विधा उपस्थित न होगी। इसी अवस्था से सत्य-प्रतिष्ठा घनी होती रहती है। भगवान् यथार्थ ही हैं, यह धीरे धीरे उपलब्धि के योग्य होता रहता है। इसी समय में थोड़ी दृढ़ता के साथ अध्यवसाय के साथ—अग्रसर होने की चेष्टा करनी चाहिए।

जो लोग कहते हैं कि जब समय होगा तब भगवान् स्वयं ही बुला लेंगे—वे साधना नहीं कराते हैं, इस हेतु हम साधना नहीं करते हैं—उनका कहना ठीक है। इसका कुछ प्रतिवाद नहीं हो सकता। परन्तु ऐसा कहना भगवान् की ओर की बात है, हमारी ओर की बात नहीं है। आश्चर्य की बात है कि हम प्रत्येक कार्य अपने कर्तृत्व के बोध से करते हैं, केवल साधना के विषय में उन्हीं का कर्तव्य मानते हैं। यह आत्म-प्रवञ्चना के सिवा और कुछ नहीं है। अतएव इस प्रकार के भाव का वर्जन करना चाहिए। जब तक यत्न, चेष्टा, पुरुषार्थ का बोध है तब तक उसका यथासाध्य प्रयोग करना ही होगा। परन्तु मनुष्य को ऐसा भी दिन आ सकता है जब यत्न या पुरुषार्थ नहीं चलता। केवल उसी समय लोगों की इस प्रकार की उक्ति शोभन होती है। जब तक ऐसा ख़याल है कि सब काम हम ही करते हैं, तब तक साधना भी हम ही को करनी होगी। उन्हीं की कृपा से हम अग्रसर हो सकेंगे, इस प्रकार का बल हृदय में धारण कर काम में अग्रसर होना चाहिये। हमारे

सब कामों के प्रेरक एक-मात्र सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं—हमारा काम सफल या निष्फल हो, उसमें कुछ लाभ या हानि नहीं। जिन्होंने हमें कर्म में नियत किया है वही इसका विचार करेंगे। इस बात की चिन्ता हमें नहीं करनी होगी। हम भगवान् से नियत होकर कर्म कर रहे हैं। इस प्रकार के ज्ञान से—चाहे संसार के कार्यों में नियत होकर, चाहे साधना में नियत होकर—यथासाध्य अध्यवसाय का प्रयोग करना चाहिए। यही मनुष्यत्व है।

सत्य-प्रतिष्ठा का एक और फल है, जिसको पहले ही समझ जाइयेगा—इससे आपकी अनेक चिन्तायें सत्य घटनाओं में परिणत होती जायँगी। देखियेगा कि आपके छोटे छोटे सङ्कल्प मानो किसी अज्ञात शक्ति के द्वारा सिद्ध हो रहे हैं। इस अवस्था में कृतज्ञता से प्राण विवश हो जाते हैं। "प्रभो, आप धन्य हैं, धन्य है आपकी दया! इतना स्नेह, इतना प्रेम है आपका! एक दिन भी मैंने आपकी तरफ़ फिर कर नहीं देखा! प्रभो, मुझे कृतज्ञता सिखाइए, जिससे मैं आपकी दया को, आपके असीम स्नेह को समझ सकूँ—ऐसा कुछ कीजिए। मैं कितने जन्म-जन्मान्तर से आपके अयाचित मङ्गलमय स्नेह का उपभोग करता आता हूँ। यह आपका दान है, यह जान कर मैंने एक दिन के लिये भी तो आपके प्रति कृतज्ञ हो दृष्टि-निक्षेप नहीं किया। अब देरी क्यों करते हैं; अब उस अकृतज्ञता का प्रायश्चित करने दीजिए, प्रभो!" इसी प्रकार उनके पैरों पर लोट जाइए।

जो बार बार रोग, शोक, दुःख, दरिद्रता के द्वारा पीड़ित होकर भगवान् के दयामयत्व का अनुभव नहीं कर सकते उनको समझाने की चेष्टा करनी चाहिए कि उन सब दुरवस्थाओं के भीतर से भी उनका अकृत्रिम स्नेह तथा दया प्रकाशित

हो रही है। अज्ञान से अन्ध हम लोगों के चक्षु भविष्य की मङ्गलमय आलोक-छटा को देख नहीं सकते। इस हेतु हम वर्तमान दुःख को तीव्र समझते हैं। अनन्त जीवन के लिए कुछ वर्षों का दुःख क्या है? यथार्थ में यदि थोड़ी सी विचार-बुद्धि से देखिए तो समझ जाइयेगा कि हम लोगों के दुःख के परिमाण से सुख का परिमाण कहीं अधिक है। जब तक मनुष्य नित्य, स्थिर सत्ता में विश्वासवान् नहीं होता तभी तक दुःख असहनीय मालूम होता है। परन्तु यदि एक बार आप अपने को महासत्य में प्रतिष्ठित कर सकें, तो सहस्र दुःख आने से भी आपको उनके सहने की अनायास शक्ति मिलती है। अथवा उस अवस्था में दुःख नाम की कोई वस्तु ही नहीं रहती। सभी मङ्गलमय के स्नेह का दान है, ऐसा समझ में आता है। आनन्द सदा अक्षुण्ण रहता है।

पूर्वोक्त चिदाकाश के दर्शन का अभ्यास हो जाने से ही दुःख-कष्ट बहुत सामान्य या हलके मालूम होते हैं। इस अवस्था में पहुँचने से अर्थात् अखण्ड भगवत्-सत्ता का अनुभव घनीभूत होने से साधक के लिए प्राण-प्रतिष्ठा का अभ्यास करने का समय उपस्थित होता है। यह विनय तथा श्रद्धा के साथ गुरु के मुख से सुनना चाहिए। पुस्तक पढ़ कर केवल साधना का आग्रह बढ़ता है, यथार्थ साधना गुरु की कृपा से अनुष्ठित होती है।

पुस्तक में लिख कर प्राण-प्रतिष्ठा का प्रकाश करने से कुछ लाभ नहीं है, कारण यह कि अनधिकारी के हाथ में पड़ने से गुरु तथा वेदान्त-वाक्य की अवमानना होती है। परन्तु यदि साधकगण को आग्रह तथा कौतूहल हो और भगवान् की इच्छा हो, तो वह भी पुस्तक के आकार में प्रकाशित हो सकती है। क्योंकि वर्तमान काल-धर्म पहले से विपरीत सा

होगया है। पहले तृष्णा पानी की ओर दौड़ती थी, अब पानी को तृष्णा की ओर दौड़ना पड़ता है। मनुष्य ऐसी ही गति-शक्ति-हीन हो गया है।

हे अमृत के पुत्रगण, जब तक सुख की आशा से केवल जगत् के धन, जन, भोग, विलास, यश, प्रतिष्ठा इत्यादि की खोज में दौड़ोगे उतने दिन सुख तो पाओगे ही नहीं, वरन् दुःख के सङ्घात से बार बार उत्पीड़ित होओगे—यह निश्चय है। अतएव सब अवस्थाओं के भीतर अपने जीवन की गति को धर्म की ओर परिचालित करने का उद्योग करो। जानो कि सबसे पहले धर्म है, फिर अर्थ, फिर काम। जीवन धर्ममय होने से अर्थ का अभाव नहीं होता। अर्थ का अभाव न रहने से कामनाओं के पूरा करने में कुछ बाधा नहीं होती। परन्तु धर्म को परित्याग कर अर्थ तथा काम की सेवा करने से जीवन कभी शान्तिमय नहीं होता।

सत्य ही एक-मात्र धर्म है। "नहि सत्यात् परो धर्मः", सत्य से बढ़कर धर्म नहीं है। जीवन की गति सत्याभिमुखी होने से ही धर्म की रक्षा होती है। वह देखिए, सत्य का आलोक आ पहुँचा है। आइए, वेग से अग्रसर होइए। जीवन शान्तिमय हो जायगा। दुःख तथा निराशा का अन्धकार चिरकाल के लिये दूर हो जायगा। आपलोगों के मस्तकों पर श्रीगुरु का मङ्गलमय स्नेहाशीर्वाद वर्षित हो! आप लोगों को सत्य-लाभ हो। सत्य की ओर दृष्टि रख कर कातर अन्तःकरण से कहिए—असतो मा सद्गमय।*

---

* एक बंगाली साधु के उपदेशों का सार-संग्रह।

वैदिक साहित्य का काल

काल-निर्णय के विषय में भारतीय साहित्य अन्धकार-पूर्ण है। भारतवर्ष की प्राचीन घटनावली के समय का निश्चय करना असम्भव सा है। प्राचीन भारतीय पुरुषों ने व्याकरण-शास्त्र, गणित-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, स्मृतिशास्त्र, दर्शन-शास्त्र और काव्यकला आदि में असाधारण पारदर्शिता दिखलाई है। परन्तु आश्चर्य है कि, उन लोगों ने इतिहास की चर्चा उतनी नहीं की। इस इतिहास के अभाव के ही कारण काल-निर्णय करना कष्ट-साध्य हो गया है। बहुत कष्ट से निर्णय करने पर भी वह अनिश्चित सा ही जान पड़ता है। वेद, पुराण तथा रामायण-महाभारतादि में जो कुछ विवरण पाये भी जाते हैं, उनसे यथार्थ-इतिहास का पूरा पता लगाना बहुत ही कठिन है। औरों की अपेक्षा, कल्हण की राजतरंगिणी आधुनिक है। हर्ष-चरित के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। महावंश भी अधिक प्राचीन नहीं। संभवतः लिपिविधि के अभाव से ही प्राचीन काल में इतिहास की रचना नहीं हुई (१)।

प्राचीन काल में ग्रीक जाति ने पारसियों और रोम-निवासियों ने कार्थेज-वासियों के द्वारा आक्रान्त होने के समय स्वाधीनता की रक्षा के हेतु असाधारण उद्योग किया था। इसलिए वहाँ जातीयता का पूर्ण-संगठन हुआ था। लेकिन सिकन्दर के आगमन के पूर्व भारतवर्ष विदेशियों द्वारा आक्रान्त नहीं हुआ था। ऐतिहासिक युग में बिम्बिसार के समय में केवल गान्धार देश दरयुस के द्वारा अधिकृत हुआ था। उसके बाद

१—Bhandarkar-Commemoratiom Essays:
Indo-Iranians by Keith.

शक, हूण आदि जो विदेशीय-शत्रु भारतवर्ष में आये थे, वे अधिक दिन-तक अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सके थे। श्रेष्ठतर आर्य-सभ्यता के सम्पर्क से वे लोग भी भारतीय जन-साधारण के साथ एकीभूत हो गये थे। प्राक्-ऐतिहासिक युग में, तांड्य महाब्राह्मण में तथा अथर्ववेद-संहिता में जिन व्रात्यों (१) का उल्लेख पाया जाता है वे आर्यों के ही समान आगन्तुक थे और आर्यों के साथ ही मिल गये थे। अतएव भारतवर्ष में किसी विशिष्ट जातीयता का उद्भव नहीं हुआ था और भारतवासी इतिहास की आवश्यकता का अनुभव भी न कर सके थे[२]।

जिस प्रकार मनुष्य की दो आँखें हैं, और इसी इन्द्रीय द्वारा उसकी श्रेष्ठ अनुभूति होती है—ठीक उसी प्रकार यदि इतिहास कला को देवी मान लिया जाय, तो यह मानना होगा कि उसके भी दो आँखें हैं। अब जिन आँखों के द्वारा घटनाओं का सम्यक् अनुभव होता है, इतिहास की वे आँखें कौन कौन हैं? भौगोलिक संस्थान और काल-निरूपण। घटना किस स्थान पर तथा किस समय संघटित हुई, न जानने से उसके सम्बन्ध में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। भारतवर्ष की प्राचीन घटनाओं का स्थान तथा उनका काल निर्णीत नहीं हुए, इसलिये उनके संबन्ध में बहुत सन्देह है। उदाहरणार्थ, आदि आर्य जाति का वासस्थान कहाँ था—इस विषय में भिन्न भिन्न लोगों के भिन्न भिन्न मत हैं। कोई कहते हैं,—मध्य-एशिया में, कोई साईबीरिया में, कोई एशिया के दक्षिण-पश्चिम भाग में, कोई जर्मनी में, कोई स्कैन्डिनेविया में, कोई उत्तरीय मेरु में, कोई

१—Calcutta Review, May 24. Boghazkoi Inscriptions by Mr. K. C. Chatterjea, M. A.

२—Macdonnell's Sanskrit Literature

मेंगोलिया में और कोई भारतवर्ष में ही आर्यों का वासस्थान बतलाते हैं। आर्यलोगों ने किस समय भारतवर्ष में प्रवेश किया और कब ईरानियों से अलग हुए इस का निर्णय अभी तक नहीं हुआ।

भारत के प्राचीन इतिहास की अपेक्षा "वेद-काल" का निर्णय करना और भी अधिक जटिल प्रश्न है। इसी प्रश्न के समाधान पर भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की समस्त घटनाओं की मीमांसा का निर्भर है।

इस सम्बन्ध में हमारे देश के प्राचीन मतावलम्बी यह कह सकते हैं कि इस प्रकार का प्रश्न ही नहीं हो सकता। क्योंकि वेद आदि काल से ही विद्यमान हैं। कल्पान्त में विश्व का ध्वंस होने पर भी वेद का नाश नहीं होता। तब वेद ब्रह्म में विलीन हो जाता है, और पुनः जब विश्व-सृष्टि होती है उस समय वेद अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में परिणत हो जाता है।

हमारे देश का प्राचीन मत ही हमारे लिये पूज्य एवम् माननीय है। लेकिन जिस प्रकार काठ के अन्दर की अव्यक्त अग्नि को व्यक्त रूप में लाने के लिये कुछ विशेष कारणों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ब्रह्म में विलीन वेद को व्यक्त करने के लिये भी कुछ विशेष कारणों की आवश्यकता है। वे विशेष कारण हैं हमारे अलौकिक ज्ञान-सम्पन्न देवस्वरूप आर्य ऋषिगण। उन्हीं ने अपने असमान्य आध्यात्मिक बल से वेद के सब मन्त्रों का दर्शन पाया था और उन्हें प्रकाशित किया था। ये मंत्र-द्रष्टा पुरुषगण ही द्रष्टी अथवा ऋषि कहलाये।

इस समय यदि यह प्रश्न किया जाय कि आर्य ऋषियों ने किस समय वेद-मंत्रों को प्रकाशित किया था, तो अनुचित न होगा।

वेद, मनुष्य-सभ्यता का प्राचीनतम निदर्शन है। इस की अपेक्षा अन्य प्रचीन रचनाओं का अभी तक आविष्कार नहीं हुआ। यह बड़ी ही विचित्र रचना है। इससे तत्कालीन पंडितों की मानसिक-शक्ति के अति ही आश्चर्यजनक विकाश का सूक्ष्म परिचय मिलता है। केवल प्राचीन होने के कारण ही वेद भारतीय-साहित्य का मुकुट-मणि है यह बात नहीं। लेकिन जिसे वैदिक साहित्य के अन्तर्निहित मर्मों से पूर्ण परिचय नहीं है, उसे कभी भी प्राचीन भारत के मानसिक एवम् आध्यात्मिक जीवन की तथा उसकी सभ्यता की उपलब्धि नहीं हो सकती। वेद ही है हिन्दू-शास्त्रों की भित्ति।

वैदिक साहित्य में तीन स्तर देख पड़ते हैं। पहला स्तर काव्य का है। दिव्य-शक्ति-प्रसून अनुभूति के बल से जिस मंजुल भावों की सृष्टि हुई थी, वही (इस स्तर में) सुन्दर शब्दों में लिपिबद्ध हुए हैं। इन्हीं रचनाओं को मंत्र कहते हैं। देवतागण अदृश्य हैं, अतः भक्तगण कुछ पुनीत वाक्यों द्वारा उन्हें सन्तुष्ट एवम् हृदयङ्गम करने की चेष्टा करते थे। जिन पवित्र वाक्यों द्वारा वे आराधना करते थे; उन्हें ही मंत्र कहते हैं। उन लोगों ने विचारा था कि अखिल विश्व देवताओं के द्वारा अधिष्ठित है। इस सुविस्तृत विश्व के कोनों कोनों में भी वे लोग देवताओं के माहात्म्य का अनुभव करते थे। उन्हीं शक्तियों को देवरूप में हृदयङ्गम कर उन्हें समस्त ब्रह्माण्ड का अथवा उसके एकांशका अधिष्ठाता कह उनकी उपलब्धि करते थे। ([1]) वे लोग इन देवताओं के निकट अन्न, पुत्र, धन और सौभाग्य की याञ्चा करते थे, और विपत्ति से उद्धार की, तथा शत्रुओं की पराजय की प्रार्थना किया करते थे। इन देवों में अग्निदेव की शक्ति

१—स्व॰ उमेश चन्द्र वटब्याल।

पर वे अत्यन्त मुग्ध रहते थे। उन लोगों का विश्वास था कि उन्हीं की शक्ति से आलोक एवम् उत्ताप उत्पन्न होता है। वे सर्वव्यापक हैं। वे ही सूर्य्य में विद्यमान रह कर प्रभा प्रदान करते हैं। तथा वे ही अन्तरिक्ष में अन्तर्हित होकर मेघ की सृष्टि करते, जल बरसाते और बिजली चमकाते हैं, और वे ही पृथ्वी में रह कर सर्व-भूतों की प्राण-रक्षा करते हैं। अग्नि न रहने से हमलोगों के प्रधानेन्द्रिय चक्षु का कार्य नहीं चलता। इस कारण हमलोग अनेक ज्ञानों से वञ्चित रहते, तथा इस मनोरम विश्व के सौन्दर्य का अनुभव कदापि न कर पाते। जिस सौंदर्य की सहायता से हमलोगों के हृदय में प्रेम का बीज अंकुरित होता है, अग्नि के अभाव से उसका उदय नहीं हो पाता। इसी मंजुलभाव-तरङ्गावली में डूब कर वैदिक समय के ऋषिगण अग्निदेव की स्तुति [१] किया करते थे। इसी भाव से वे अन्य देवताओं की अर्चना करते थे। इसके अनुसार पहले वेद का धर्म बहु-देव-वाद था। पहले वेद के देवताओं की संख्या ३३ थी—उनमें ग्यारह स्वर्ग के, ग्यारह अन्तरिक्ष के तथा ग्यारह पृथ्वी के थे। इसके बाद देवताओं की संख्या अधिकाधिक बढ़ती गयी। देवताओं के विशेषण भी स्वतन्त्र देवता बन गये। जो कुछ हो, पहले देवताओं का गुण-गान एक ही प्रकार से होता था। उनकी स्तुति सुस्पष्ट रूप से परिस्फुट नहीं थी। जिस समय जिनकी स्तुति की गयी, उस समय वे ही प्रधान गिने गये। सभी शक्तिसम्पन्न, प्रभाप्रदीप्त एवम् मंगलमय थे [२]। सभी देवताओं की गुणावली एक सांचे में ढली होने के कारण, एवम् एक को दूसरे से अपृथक् समझने के कारण, परवर्त्ती काल में उनको एक ही का भिन्न भिन्न स्वरूप मानने की प्रथा चल पड़ी।

१—उमेशचन्द्र बटब्याल।

२—श्री चारुचन्द्र बन्द्योपाध्याय रचित "देववाणी"।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में देवत्व ने विश्व-देववाद में परिणत हो, उपनिषद् में ब्रह्मवाद की सृष्टि की है।

प्रधानतः यज्ञ के ही आधार पर वेद की रचना हुई है। वैदिक समय के उपासक लोग अग्नि को अपने प्राण, ज्ञान और आनन्द के मूल में अलक्षित भाव से अनुभव करते थे। अतएव अग्नि की उपासना ही उन लोगों के बीच सर्वप्रधान धर्म था। प्रत्येक गृहस्थ के घर में अग्नि सर्वदा प्रज्वलित रखी जाती थी। एवम् प्रतिदिन दोनों समय उसमें होम किया जाता था। इसी प्रकार से यज्ञ की उत्पत्ति हुई थी[1]। इसके पश्चात् आर्यों ने यज्ञ को गौरवान्वित एवम् मनोहर बनाने की इच्छा से कवित्वपूर्ण ऋक्मन्त्रों, गानोपयोगी साम-मन्त्रों एवम् यज्ञोपयोगी यजुस्-मन्त्रों को क्रमशः ऋषियों के मुख से प्राप्त किया।

यह सर्ववादि-सम्मत है कि ऋग्वेद-संहिता का प्राचीन भाग सब की अपेक्षा प्राचीन है। वेद-भाष्यकार सायनाचार्य ने ऋग्वेद को सर्वप्राचीन ग्रन्थ बतलाया है। यूरोपीय विद्वानों का भी यही मत है। किन्तु यह बात कि ऋग्वेद के सब अंश एक बार अथवा एक ही समय पाये गये, ऐसा नहीं जान पड़ता। अधिकांश भाग जिस समय आर्य-लोग सप्तसिन्धु-प्रदेश में वास करते थे, उस समय का लब्ध जान पड़ता है। शेष अंश क्रमशः प्राप्त हुआ। विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दा एवम् दशम मंडल के ऋषिवृन्द ही ऋक्-प्रकाशक ऋषियों में आधुनिक मालूम पड़ते हैं।

प्राचीन काल में वेद-वाक्य ऋत्विक्-सम्प्रदाय की निज की सम्पत्ति हो गई थी। उस समय तक वर्ण-विभाग नहीं हुआ था। ऋत्विक् सम्प्रदाय चार भागों में विभक्त था—अध्वर्यु, होता,

---

१—स्व० उमेश चन्द्र बटव्याल।

उद्गाता और ब्रह्मा। अध्वर्युगण यजुर्मन्त्र द्वारा, होतृगण ऋक्मन्त्र द्वारा एवम् उद्गातृगण सामगान द्वारा यज्ञ निष्पन्न करते थे। ब्रह्मा नामक ऋत्विक् त्रिवेदज्ञ, ब्रह्मविद्या में पारदर्शी एवम् प्रतिभा-सम्पन्न होते थे। वे यज्ञ के समय अन्य ऋत्विकों के कार्य-सम्पादन का परिदर्शन करते थे, और उन लोगों की त्रुटि का संशोधन एवम् प्रतिविधान करते थे[1]। बाद ही होतालोगों के वेद का ऋग्वेद, अध्वर्युलोगों के वेद का यजुर्वेद, उद्गातालोगों के वेद का सामवेद तथा ब्रह्मा लोगों के वेद का नाम अथर्ववेद पड़ा।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि भिन्न भिन्न समय में, भिन्न भिन्न ऋषियों के द्वारा वेद के सूक्त दृष्ट होकर मंत्र के रूप में प्रकाशित हुए थे। ऋषियों के शिष्यवृन्द उन्हें सुन-सुन कर स्मरण में रक्खा करते थे। इसीलिये वेद का नाम श्रुति पड़ा। इस प्रकार जब सूक्तों की संख्या अधिक हुई तब वे व्यास इत्यादि ऋषियों के द्वारा संग्रहीत हो श्रेणीबद्ध हो गये। अर्थात् उन सूक्तों की संहति की गई। इन्हीं संहतियों को वेद-संहिता कहते हैं। यह देखने में आता है कि सामवेद-संहिता का प्रायः सम्पूर्ण, यजुर्वेद का आधा, एवम् अथर्ववेद के अनेक मन्त्रांश ऋग्वेद से ही लिये गये हैं। यजुर्वेद में जो अंश ऋग्वेद से नहीं लिया गया है, वह एक प्रकार के छन्दोबद्ध गद्य में रचित है।

वेद के प्रथम स्तर की चर्चा अधिक न कर अब दूसरे स्तर पर कुछ लिखता हूँ। इस समय और अधिक स्तोत्र की उतनी आवश्यकता नहीं समझी गयी। अतः ऋषियों ने और मन्त्र नहीं पाये। जो स्तोत्र पहले ही प्रकाशित हो चुके थे उन्हीं का संरक्षण और व्यवहार होने लगा। उन्हें परम पवित्र ईश्वर-

---

१—ऋग्वेद के सायनचार्य्य के भाष्य का उपोद्घात।

वाक्य समझकर उनकी आवृत्ति करने लगे। याज्ञिकगण यज्ञ के उन्नति-साधन में लग गये, और नाना प्रकार के नये नये यज्ञों का अनुष्ठान करने लगे। इस प्रकार कर्मकाण्ड एक जटिल विषय में परिणत हो गया। यज्ञ को सुचारु रूप से सम्पादन करने के लिये संहिता के मन्त्रों का प्रयोग होता था। लेकिन उनके अधिकांश की भाषा प्राचीन एवम् दुर्बोध हो गयी थी। अतः उनकी व्याख्या की आवश्यकता आपड़ी। प्रत्येक संहिता के प्राचीन मंत्रों का मर्म क्या है, किस किस नियम से यज्ञादि सम्पन्न करना उचित है,—ऐसे विषयों की विधि के सम्बन्ध में ऋषियों के मन में प्रत्यादेश होने लगे। इन्हीं प्रत्यादिष्ट विधियों के एक एक संग्रह का नाम 'ब्राह्मण' पड़ा। प्रत्येक संहिता के लिये पृथक् पृथक् 'ब्राह्मण' की रचना हुई। एक एक यज्ञ के लिये होता किन किन ऋक्-मन्त्रों का निर्वाचन करेंगे और किस किस प्रणाली से वे अपने कार्य को सम्पन्न करेंगे, ऋक्-मन्त्र किस अर्थ से गृहीत होंगे तथा अर्थों के साथ किसी इतिहास का सम्बन्ध है अथवा नहीं इत्यादि विषयों का समावेश ऋक्-वेद के ब्राह्मणों में किया गया है। इस प्रकार सामवेद एवम् यजुर्वेद के अर्थ इत्यादि का यथाक्रम सामवेद और यजुर्वेद के ब्राह्मणों में निर्धारण किया गया। अथर्व-वेद के ब्राह्मण की उत्पत्ति भी इसी प्रकार हुई। ब्राह्मणों की रचना गद्य में की गयी। यज्ञानुष्ठान की विधि और व्याख्या के साथ साथ उनमें बीच बीच में भाषा, व्याकरण, निर्वचन इत्यादि नाना विषयक प्रसंगों, तथा मत-समर्थन के हेतुओं, पौराणिक गल्पों एवम् दार्शनिक विचारों का समावेश किया गया। येही गद्य की पहली रचनाएं हुईं। इसलिये इसकी भाषा अत्यन्त जटिल एवम् प्रसाद-गुण-वर्जित हुई। संहिता की भाषा सरल, स्वाभाविक तथा कवित्वपूर्ण है। किन्तु ब्राह्मणों की भाषा कृत्रिम एवम्

अवच्छिन्न (abstract) भावों से भरी है। इसके बाद ब्राह्मणों की भाषा कुछ सरल होने लगी थी।

जिस समय नवागत आर्यलोग सप्तसिन्धु प्रदेश में युद्ध विग्रह में संलग्न रहते थे उसी समय वेद के अधिकांश मन्त्र अथवा स्तोत्र दृष्ट हुए थे। किन्तु उस समय से भी पहले के कुछ स्तोत्र पाये जाते हैं जो सुदूर प्राचीन समय के हैं, और अनुमान किया जाता है कि वे आर्यों के सप्तसिन्धु प्रदेश में आगमन के पूर्व दृष्ट हुए थे, क्योंकि उनकी भाषा बहुत ही प्राचीन एवम् दुर्बोध है। वे 'निविद्' नाम से विख्यात हैं। अनेक ऋक्-मन्त्रों में इन सब प्राचीन 'निविदों' का उल्लेख देखने में आता है। ऋक्-द्रष्टा ऋषियों ने भी इन्हें प्राचीन मन्त्र बतलाया है। इनकी भाषा गद्य और पद्य की मध्यवर्ती है [1]।

जब आर्यगण युद्ध विग्रह से निवृत्त हो चुके, तब शान्ति के समय में अवकाश पाकर यज्ञानुष्ठान में विशेष ध्यान देने लगे। उनके यथोचित सम्पादन के निमित्त ब्राह्मणोक्त विधियों का प्रयोजन हुआ। इसी समय आर्यों को अपने समाज को चार वर्णों में विभक्त करने की आवश्यकता पड़ी।

उस समय ब्राह्मण-ग्रन्थ-समूह भी वेद-संहिता के सदृश पवित्र समझे जाते थे और उनकी गिनती श्रुतिओं में होती थी। एक श्रेणी के ब्राह्मण 'आरण्यक' कहे जाते थे। जो लोग विद्योपार्जन के उपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश न कर ज्ञाना-नुशीलन में अपने जीवन को व्यतीत करते थे और घर के बाहर वन में आश्रम निर्माण कर कुटियों में निवास किया करते थे, वे 'अरण' कहे जाते थे। ये 'अरण'-लोग ब्रह्म के अस्तित्व, प्रकृति, जगत्सृष्टि और परलोक के विषय में जिन

१—स्वर्गीय उमेश चन्द्र बटब्याल।

सिद्धान्तों पर पहुँचते थे उनका 'आरण्यक' नाम दिया गया था। उन्हीं आरण्यकों के शेषभाग में जिन दार्शनिक विचारों का समावेश हुआ उन्हें 'उपनिषद्' कहते हैं। इन्हीं उपनिषदों से ही भारत के भिन्न भिन्न दर्शन शास्त्रों की उत्पत्ति हुई। 'संहिता युग' और 'ब्राह्मणयुग' के मध्य कोई सूक्ष्म व्यवधान-रेखा नहीं है। कुछ ऋक् 'ब्राह्मण-युग' में भी लब्ध हुए थे, ऐसा अनुमान किया जाता है।

हम अब वैदिक साहित्य के तीसरे स्तर पर आ पहुँचे हैं। इसे 'सूत्रयुग' कहते हैं। मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद् आदि के अतिरिक्त भी कुछ ग्रन्थ वैदिक साहित्य के अन्तर्गत हैं—ऐसा विचार किया जाता है। उन्हें कल्प-सूत्र कहते हैं। उनकी तीन श्रेणियां हैं—पहला श्रौत-शूत्र, दूसरा गृह्य-सूत्र और तीसरा धर्म-सूत्र। इसके बाद इसी कल्प-सूत्र का अवलम्बन कर मनुस्मृति इत्यादि धर्मशास्त्रों की रचना हुई। कल्प-सूत्र यद्यपि साधारण पुरुषों की रचना हैं, तो भी इन्हें वैदिक साहित्य के अन्तर्गत ही गिनते हैं। श्रौत-सूत्र में यज्ञानुष्ठान के नियमों का समावेश है। इन सूत्र-ग्रन्थों की भाषा अत्यन्त संक्षिप्त रूप में सूत्राकार में ग्रथित है।

वैदिक साहित्य का काल (२)

वैदिक साहित्य के तीनों स्तरों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। यह अति ही विराट् साहित्य है। जिन लोगों ने इसकी कुछ भी आलोचना की होगी, वे इसके परिमाण का अनुभव कर सकेंगे। इस समय अनेक ग्रन्थ हो गये हैं। इस प्रकार के महान् एवम् विस्तृत साहित्य की रचना करने में कितना समय लगा होगा—यह विवेचना करने ही योग्य बात है।

पाणिनि का व्याकरण सूत्राकार में रचित है। गोल्डुस्टकार जैसे प्रमुख पाश्चात्य पंडितों ने पाणिनि के काल के संबंध में बहुत विचार किया है। इस समय यह निश्चित रूप से स्थिर हो चुका है कि पाणिनि ईसा के पहले चतुर्थ शताब्दी के विद्वान हैं। यूरोपीय विद्वानों ने इसी मत का समर्थन किया है। पाणिनि के काल का ही अवलम्बन कर अन्यान्य विषयों के काल-निर्णय की चेष्टा की गयी है। सूत्रयुग के मध्यवर्ती समय में ही पाणिनि का आविर्भाव हुआ था। वेद की प्रातिशाख्य-समूह सूत्राकार में रचित हैं। शौनक के ऋग्वेद-प्रतिशाख्य की रचना यास्क के 'निरुक्त' की रचना के बाद हुई है, क्योंकि शौनक के 'वृहद्देवता' में यास्क के मतों का उल्लेख है। इस कारण यह प्रमाण दिया जा सकता है कि यास्क पाणिनि से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व हुए थे। यास्क के पहिले भी सूत्र-ग्रन्थों की रचना हुई थी। अतः सूत्र-ग्रन्थों की रचना का आरम्भ-काल बुद्धदेव के पहले है। जैन तथा बौद्ध दर्शन हिन्दू-शास्त्र के प्रतिवाद-मूलक हैं, तथा उपनिषदों के ही आधार पर हिन्दू दर्शन-शास्त्र की रचना हुई है। उपनिषद्-समूह (ब्राह्मण-परिशिष्ट) आरण्यक

का क्रमविकाश है। दो चार सौ वर्षों में ऐसे विराट् साहित्य का विकाश नहीं हो सकता।

मैक्समूलर के मतानुसार ब्राह्मणों का रचना-काल ईसा के ८०० वर्ष से ६०० वर्ष पूर्व, और वेद-संहिताओं का विभाग एवम् विन्यास-काल इससे और दो सौ वर्ष पूर्व अर्थात् ईसा से १००० से ८०० वर्ष पूर्व है। उन्होंने वेद के शृंखला-सम्पन्न होने का काल रचना-काल से और भी दो सौ वर्ष पूर्व बतलाया है। अतएव मैक्समूलर के मत से वेद का रचना-काल ईसा से १२०० से १००० वर्ष पूर्व है। इस कालनिर्देश में कोई युक्ति नहीं देख पड़ती। केवल कल्पना के बल एक एक काल का समय दो सौ वर्ष निरूपण किया गया है। इस प्रकार मैक्समूलर का मत ग्रहण-योग्य प्रतीत नहीं होता।

यूरोपीय विद्वानों ने हम लोगों के साहित्य की बहुत ही आलोचना की है और अभी तक कर रहे हैं। उन लोगों ने जैसा उत्साह और अध्यवसाय दिखलाया है वैसा आजकल के अनेक भारतवासी नहीं दिखला सके हैं। इस का फल यह हुआ कि अपने साहित्य से हमलोगों में से अधिकांश अनभिज्ञ हैं। अतएव यूरोपीय विद्वान हमलोगों के शास्त्र के सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं, हमलोगों को वही सिर नवाकर मान लेना पड़ता है। हम लोगों में प्रतिवाद करने की क्षमता बहुत ही थोड़ी है। हम लोगों में यदि कोई दो एक आदमी प्रतिवाद करने के निमित्त उद्यत होते भी हों, तो उनका प्रतिवाद प्रायः युक्तिहीन एवम् अज्ञता का परिचायक होता है। जिनका प्रतिवाद सारगर्भित है, उनका मत प्रबल पाश्चात्य मत के गम्भीर स्रोत में बह जाता है। वैज्ञानिक प्रणाली से अनुसन्धान कार्य में अग्रसर न होने से सार तथ्यों का आविष्कार नहीं हो सकता। जो सज्जन इस कार्य में लगेंगे उन्हें पक्षपात एवम् हृदय की

भावप्रवणता पूर्णरूप से परित्याग कर देना होगा। अन्ध विश्वास के वश में जाकर केवल भूतकाल के गौरव की व्याख्या करने से ही सत्य का आविष्कार नहीं हो सकता। सत्य ही ज्ञान का प्रधान सहायक है—सत्य ही ज्ञान है। हम लोगों की अन्तरात्मा से प्रायः यही ध्वनि निकलती है कि यूरोपीय विद्वानों का मत पक्षपातपूर्ण है। तो भी हमलोग सद्‌युक्ति के द्वारा उनके पक्षपात का प्रमाण देने में असमर्थ हैं।

यूरोपीय विद्वान जिस समय पहले पहल हम लोगों के साहित्य की आलोचना में प्रवृत्त हुए थे, उस समय हम-लोगों के साहित्य के सम्बन्ध में उन लोगों की यथेष्ट श्रद्धा थी। उस समय वे लोग भारतवर्ष को प्राचीन सभ्यता का केन्द्र मानते थे। किन्तु उन लोगों ने इधर पचास-साठ वर्षों के अन्दर जो ज्ञान प्राप्त किया है उससे उन लोगों के मन में एक प्रकार का दम्भ आ गया है—ऐसा सन्देह किया जाता है।

जिस सायनाचार्य का भाष्य न रहने से वे वेद-शास्त्रों का दन्तस्फुट नहीं कर सकते थे, उन्हीं के प्रति अब उनमें से अनेक अश्रद्धा दिखलाते हैं। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं है कि सायन जो कुछ कह गये हैं उसे ही अभ्रान्त कहकर मान लेना होगा। परन्तु मेरा मन्तव्य यह है कि स्थलविशेष में उनका मत भ्रान्त है ऐसा सन्देह होने पर भी, सभों को उन्हें गुरु स्वीकार कर, वेद-विद्या का मुकुट-मणि मान कर, उनका यथेष्ट समादर करना उचित है।

पाश्चात्य विद्वान हम लोगों के शास्त्रों की प्राचीनता एवम् उनके उक्तिसमूह पर सन्देह-युक्त हैं। उन लोगों ने बड़ी ही सावधानता का अवलम्बन किया है। इस समय उन लोगों की चेष्टा है कि भारतीय प्राचीन घटनाओं को यथासम्भव आधुनिक प्रमाणित करना और साहित्य में जो उक्तियाँ पायी जाती हैं, उनके प्रति अविश्वास स्थापित करना। इस बात को

विन्टार्नीज़ साहब ने १९२३ ई० के अगस्त मास में कलकत्ता-विश्वविद्यालय में भाषण देते समय, स्पष्ट कहा था (१)। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि कोई भी भारतवासी भारतीय-साहित्य के सम्बन्ध में प्रकृत-तथ्य का आविष्कार करने में समर्थ नहीं हैं। यदि यह कार्य किसी के द्वारा सम्पादित होना सम्भव हो तो वह भारत के बाहर के किसी मनुष्य के द्वारा। उन लोगों का यह अभिप्राय है कि विदेशी लोग भारतीय साहित्य को जिस रूप में गठित कर देंगे, हम लोगों को वही शिरोधार्य कर लेना होगा। कुछ यूरोपीय विद्वानों ने वैदिक साहित्य को वैविलोनीय तथा मिश्रीय सभ्यता से भी बहुत परवर्ती बतलाया है। पर विन्टार्नीज साहब उनके इस मत से सहमत नहीं हैं।

यूरोपीय विद्वान बहुत दिनों से वैदिक-काल के सम्बन्ध में मैक्समूलर के मत का समर्थन करते आये हैं। किन्तु जब १८९९ ईस्वी में स्वर्गीय लोकमान्य तिलक और सुविख्यात जर्मन-विद्वान याकोबी ने अपने पृथक् पृथक् युक्तियों से वेद के प्राचीनत्व को प्रमाणित कर दिया, तब उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। दोनों ने ही स्वतन्त्र रूप में ज्योतिष का प्रमाण देकर अपने अपने मत का समर्थन किया। इस सम्बन्ध में उनके मतों का उल्लेख करने के पूर्व मैं सहृदय पाठकों को ज्योतिष की दो एक बातों का स्मरण करा देना चाहता हूँ।

स्वर्गीय उमेशचन्द्र बटब्याल महाशय ने विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दा के आविर्भाव काल के सम्बन्ध में कहा है—बहुत प्राचीन काल से इस देश में ज्योतिष के सहारे काल-निरूपण

---

(१) *Calcutta Review*, November 1923. *Age of the Veda* by Dr. M. Winternitz.

करने की प्रथा प्रचलित थी। सूर्य-मण्डल जितने समय में पृथ्वी के चारों ओर प्रदक्षिणा करते प्रतीत होता है,—वही 'एक दिन' कहा जाता था। उसी प्रकार चन्द्रमण्डल जितने समय में पृथ्वी की एक बार प्रदक्षिणा करते जान पड़ता है, वह 'एक मास' गिना जाता था। एक अमावस्या से लेकर दूसरे अमावस्या तक 'एक मास' गिना जाता था। लेकिन ज्योतिषियों ने क्रमशः यह निर्धारण किया कि दो अमावस्या के मध्यवर्ती समय की अपेक्षा अल्प समय में ही चन्द्र पृथ्वी को प्रदक्षिणा करता है। प्रथमोक्त समय तीस दिन से कम, और शेषोक्त समय सत्ताईस दिन से कुछ अधिक होता था। अतएव प्राचीन ज्योतिर्विदों ने नक्षत्र-चक्र को २७ भागों में विभक्त कर एक भाग का नाम 'नक्षत्र' रखा। (१) आज कल नक्षत्रों की गणना अश्विनी से आरम्भ की जाती है, एवम् जिस विन्दु में नक्षत्रचक्र विषुव-रेखा से मिलकर उत्तराभिमुख होता है, वही विन्दु अश्विनी नक्षत्र का आदि विन्दु माना जाता है। नक्षत्रों के नाम ये हैं,—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्या, अश्लेषा, मघा, पूर्व-फाल्गुनी, उत्तर-फाल्गुनी, हस्ता, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूला, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवणा, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्व-भाद्रपद, उत्तर-भाद्रपद और रेवती। अतएव नक्षत्र-चक्र के एक एक भाग का नाम है <u>नक्षत्र</u>।

तारागण सदा ज्योतिर्मय हैं। परन्तु कई एक ज्योतिष्क हैं, जो समय समय पर अन्धकार से ग्रस्त वा गृहीत रहते हैं। उन्हें ही <u>ग्रह</u> कहते हैं। उनका नाम सूर्य, चन्द्र, बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति और शनि हैं। अतएव देखा जाता है कि प्राचीन काल के लोगों

---

(१) स्व० उमेशचन्द्र वटब्याल रचित—"वेद-प्रवेशिका" पृष्ठ ११६।

ने सूर्य और चन्द्र को भी ग्रहों की श्रेणी में ही रखा है। उस समय प्रत्येक ग्रह का नक्षत्र-चक्र में एक एक वार भ्रमण कर जाने का काल निर्दिष्ट था। आकाश के सब से ऊर्ध्व-देश में एक निश्चल तारा दिखाई पड़ता है। नक्षत्रों के सदृश यह पृथ्वी के चारों ओर भ्रमण नहीं करता, और न अन्य ग्रहों के समान नक्षत्र-चक्र में ही भ्रमण करता है। उन्हीं लोगों ने इसका नाम 'ध्रुवतारा' रखा था। इसी ध्रुवतारा के नीचे और ग्रह-समूहों के ऊपर सप्तर्षि-मण्डल नामक सात उज्ज्वल तारे दिखाई पड़ते हैं। वे इन उज्ज्वल ताराओं को नक्षत्र-चक्र से पृथक् मानते थे। यह कहना वाहुल्य है कि इस प्रकार का संस्कार भ्रमात्मक है। हम लोग अब निश्चित जानते हैं कि अन्यान्य ताराओं के समान सप्तर्षि-मंडल भी निश्चल है। नक्षत्र-चक्र में इनकी कुछ भी गति नहीं है (१)।

सप्तर्षि-मंडल के जिन दो तारों को अंग्रेज़ी में पाइन्टर्स (Pointers) कहते हैं, अर्थात् जो ध्रुव के साथ समसूत्र में अवस्थित रहते हैं, वे जिस नक्षत्र के साथ रहते हैं, सप्तर्षि-मंडल भी उसी के साथ रहता है ऐसा मान लिया जाता है। कुरुक्षेत्र के युद्ध के समय उन लोगों ने सप्तर्षि-मंडल को मघा नक्षत्र में अवस्थित देखा था। पाठकवृन्द यदि अब भी नभो-मंडल की ओर दृष्टिपात करें तो यही देखने में आवेगा कि सप्तर्षि मंडल मघा नक्षत्र में है।

किन्तु सप्तर्षि-मंडल की गति न रहने पर भी प्राचीन लोगों ने उसकी गति की कल्पना कर उसके द्वारा समय निर्णय करने का उपाय निकाला था। उन लोगों का अनुमान था कि सप्तर्षि-मंडल एक नक्षत्र में एक एक शत वर्ष तक अवस्थान करता है।

---

(१) स्व० उमेश चन्द्र वटब्याल

वेद-संहिता में, विपुव-रेखा में मृगशिरा (Orion) नक्षत्र की अवस्थिति का उल्लेख पाया जाता है। और ब्राह्मण-युग में भी इसी रेखा में कृत्तिका (Pleides) नक्षत्र की अवस्थिति का परिचय मिलता है। स्वर्गीय लो० मा० तिलक तथा विद्वान-श्रेष्ठ याकोबी ने ज्योतिष-गणना के द्वारा यह दिखलाया है, कि ईसा के २५०० वर्ष पूर्व कृत्तिका नक्षत्र में, एवम् ४५०० वर्ष पूर्व मृगसिरा में महा-विपुव-संक्रान्ति संघटित हुई थी। इसके द्वारा वेद-संहिता के प्राचीन मन्त्रों का दर्शन-काल माननीय तिलक जी ने ईसा-पूर्व ६००० वर्ष का निकटवर्ती प्रमाणित किया है। पर याकोवी साहब ने प्रमाणित किया है कि ईसा ४५०० वर्ष-पूर्व का निकटवर्ती समय वेद का अनुभव-काल है। याकोवी साहब ने और भी कहा है कि वेद-संहिता के सम्पूर्ण मन्त्र ईसा के ४५०० वर्ष पहले से २५०० वर्ष पहले पर्यन्त समय के भीतर ही रचे गये थे।

गृह्यसूत्र में प्राचीन विवाह का उल्लेख पाया जाता है। एक विवाह का विवरण इस प्रकार है—एक वर और एक वधू गोचर्म पर एक संग बैठे हैं। संध्या के समय ध्रुवतारा को दिखला कर वर वधू से कहता है, क्या इसी ध्रुवतारा के समान मेरे साथ अटल-भाव से रहोगी ? इसके उत्तर में वधू कहती है तुम अटल रहोगे तो मैं भी स्वामीगृह में अटल रहूँगी ! ऋग्वेद के विवाह-मन्त्र में ध्रुवतारा का उल्लेख नहीं पाया जाता। इसी पर याकोवी साहब का कहना है कि ऋग्वेद की सभ्यता सूत्रयुग की सभ्यता के बहुत पूर्व की है। (१)

---

(१) *Calcutta Review*, November 1923 *Age of the Veda* by Dr. M. Winternitz.

विन्टार्नीज साहब कहते हैं कि थीबो साहब तथा अन्यान्य यूरोपीय विद्वानों ने स्वर्गीय लो० मा० तिलक और याकोबी साहब के मतों का घोर प्रतिवाद किया है। सतपथ ब्राह्मण के इस वाक्य को कि 'सब ऋतुओं का आदि, मध्य एवम् शेष होता है' उद्धृत करके इन्होंने कहा है कि प्राचीन युगों का आरम्भ-काल निश्चयता से बतलाया नहीं जा सकता, तथा प्राचीन भारतवासियों ने महा-विषुव-सांक्रान्ति को लक्ष्य किया था या नहीं, यह सन्देह का विषय है। सम्भव है कि वे किसी अन्य उज्ज्वल तारा को देख ध्रुवतारा के भ्रम में पड़े हों।

कुछ समय पहले श्रीयुत कामेश्वर आयर महाशय ने कृत्तिका नक्षत्र को अवलम्बन कर यह सिद्ध किया था कि ब्राह्मण-युग ईसा से २३०० से २००० वर्ष पूर्व पर्यन्त व्यापी था। इसके अनुसार ऋषियों के द्वारा प्राचीन ऋक-मंत्रों का दर्शन-काल ईसा से ४५०० वर्ष पूर्व प्रमाणित होता है।

विन्टार्नीज़ साहब ज्योतिष के प्रमाण में विशेषरूप से सन्देह-युक्त हैं। वे ऐतिहासिक प्रमाण के ऊपर निर्भर करना विशेष युक्ति-संगत समझते हैं। उन्होंने कहा है कि वेद का काल मैक्समूलर के निर्धारित काल की अपेक्षा लो० मा० तिलक और याकोबी साहब के काल से अधिक निकटवर्ती जान पड़ता है। वे इसका यही कारण बतलाते हैं कि मैक्समूलर के निर्धारित ६०० या ७०० वर्ष में ही ऋग्वेद के प्राचीन अंश से सूत्र-साहित्य का विकाश होना असम्भव है। इस अद्भुत साहित्य के संगठित होने, तथा वैदिक-सभ्यता का विस्तार सम्पूर्ण भारत में फैलने, में बहुत समय लगा होगा। मैं वैदिक-साहित्य के तीनों स्तरों के प्रत्येक का विवरण विशद रूप में पहले ही दे चुका हूँ।

पुराणों में यह देखने में आता है कि प्राचीन ज्योतिर्विदों का यह विचार था कि राजा परीक्षित के समय सप्तर्षिमंडल मघा नक्षत्र में अवस्थित था। यह एक एक नक्षत्र में सौ-सौ वर्ष तक रहता है—प्राचीन लोगों का यही विश्वास था—यह भी पहले ही कहा जा चुका है। उपर्युक्त मतानुसार नन्द के राज्याभिषेक के समय के पञ्जिकाकारों ने लिख रखा था कि उस समय सप्तर्षिमण्डल पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में था। अतः परीक्षित के जन्म से महापद्म के अभिषेक तक १०१५ वर्ष होता है। परीक्षित के जन्म काल ही से 'कलि' का उदय हुआ। (१) अर्थात् ईसा के १५०० वर्ष पूर्व कलिकाल का प्रारम्भ हुआ।

हम लोगों के देश के पंडितगण स्वीकार करते हैं कि वशिष्ठ और विश्वामित्र समकालीन थे। ये दोनों सुदास के राजत्व-काल में प्रादुर्भूत हुए थे, और उन्होंने उसके यहाँ अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। अतएव रामायण का काल भी यही है।

वशिष्ठ के पुत्र शक्ति, शक्ति के पुत्र पराशर, पाराशर के पुत्र वेदव्यास और वेदव्यास के पुत्र शुकदेव जी थे। व्यास के शिष्य वैशम्पायन थे। गाधी के पुत्र विश्वामित्र, एवम् विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दा थे।

वैदिक काल में मनुष्य की आयु १०० वर्ष की मानी जाती थी। (२)। उस समय के सहस्र वर्ष की आयु का उल्लेख

---

(१) यावत् परिक्षितो जन्म यावत् नन्दाभिषेचनम्।
एतद् वर्षं सहस्रन्तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम्॥

(२) जीवेम शरदः शतम्। ऋग्वेद २ १७ १०

कहीं भी नहीं मिलता (१)। कुरुक्षेत्र के युद्ध के समय व्यास जी ने अपने परिपक्वावस्था में पदार्पण किया था। महाभारतोक्त घटना और रामायणोक्त घटना के मध्य में दो तीन सौ वर्ष से अधिक का अन्तर था, ऐसा अनुमान नहीं होता। कर्नल टाड् ने भी यही कहा है।

पाणिनि-रचित व्याकरण में महाभारतोल्लिखित अनेकों नाम पाये जाते हैं। अतएव ईसा से पहले चौथी शताब्दी में सम्पूर्ण महाभारत की यदि न हो तो, उसके अधिकांश की रचना अवश्य हुई थी। पाणिनि के अष्टाध्यायी में महाभारत का नाम पाया जाता है। आश्वलायन-रचित गृह्य-सूत्र में भी महाभारत का नाम पाया जाता है। अतएव महाभारत सूत्र-युग के पहले का रचा ज्ञात होता है। सूत्र-युग के पहले ही दर्शन-युग था। अतएव महाभारत के काल को दर्शन-युग कह सकते हैं। उपनिषद्-युग इसके पहले था और इसके भी पहले ब्राह्मण-युग था। ब्राह्मण-युग तथा मन्त्र-युग के बीच में, अथवा मध्य-युग तथा उपनिषद्-युग के बीच में कोई निर्दिष्ट सीमा-रेखा अंकित नहीं की जा सकती। किन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि ऋग्वेद के दशम-मंडल के ऋषि लोगों ने तथा अथर्ववेद के ऋषियों ने ब्राह्मण युग में ही अपने अपने वेद की अनुभूति प्राप्त की थी। इसी युग में आर्यों के भीतर वर्ण-विभाग हुआ था। एक समय ब्राह्मणों और क्षत्रियों के मध्य प्राधान्य के लिये प्रतिद्वन्द्विता थी। यह बात वशिष्ठ और विश्वामित्र के विवाद से प्रत्यक्ष प्रमाणित होती है। क्षत्रिय ब्रह्म-विद्या में पारदर्शी होते थे—इसके भी अनेकों प्रमाण पाये जाते हैं (२)।

इस प्रसंग की एक और बात उल्लेखनीय जान पड़ती

---

(१) वेद वाणी—श्री चारूचन्द्र बन्द्योपाध्याय।
(२) विश्वभारती—प्रथम संख्या।

है। वह यह है कि १९०७ ईसवी में ह्यूगो विंक्लर साहब ने एशिया-माइनर के अन्तर्गत बोगाज़ कोई नामक स्थान में कुछ मृन्मय फलकों का आविष्कार किया था। इन फलकों के दो में हिटाइटों के राजा सुबिल्लु लिउमा के साथ मितानी (उत्तर मेसोपोटामिया) के राजा मित्तिउजा का संधिपत्र था। ये दोनों संधिपत्र ईसा के १४०० वर्ष पूर्व के प्रमाणित हुए हैं। इनमें दोनों देशों की ओर से अपने अपने देवताओं की सहायता की प्रार्थना की गई थी।

मितानी-राज ने जिन देवताओं की सहायता की प्रार्थना की है उनके नाम मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्यद्वय (अश्विनी-कुमार-द्वय) हैं। ये वैदिक देवता हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि ईसा के १४०० वर्ष पूर्व उत्तर मेसोपोटामिया-निवासीलोग वैदिक देवताओं की पूजा करते थे (१)।

इस समय के पूर्व भी चालदिया के साथ भारतवर्ष के सम्बन्ध का उल्लेख पाया जाता है। (२) ईसा-पूर्व १५ वीं तथा १६ वीं शताब्दी में सीरिया और उत्तर मेसोपोटामिया में आर्यों का उपनिवेश था, इसका यथेष्ट प्रमाण पाया जाता है। दक्षिण मिश्र के अन्तर्गत तेलेल अमर्ना में कई एक फलक पाये गये हैं। वे सब फलक चिट्ठियाँ थीं, जिन्हें पश्चिम एशिया के राजाओं ने मिश्र के फेरो के पास लिखा था। इन राजाओं के नाम आर्य हैं। बैबिलोनिया के पूर्वस्थ कसाईट जाति के देवता का नाम सूर्य है (३)। भारतीय

---

(१) Bhandarkar's *Commemoration Essays* (The Chaldean & Indian Vedas.)

(२) R. Chanda's *Indo-European* Beviews

(३) Journal of the Royal Asiatic Society, 1911. (Articles by Stein Konow.)

शाखा से ईरानीय शाखा के विच्छिन्न होने के पूर्ववर्ती काल में मितानी एवम् अन्यान्य पश्चिम-एशिया-निवासी आर्यलोग आदि आर्यसमाज से विच्छिन्न हो गये थे। क्योंकि उस समय भी आर्य 'स' वर्ण और इरानीय 'ह' वर्ण में बदल नहीं गया था। अतएव यह घटना बहुत प्राचीन है और वेद इसकी अपेक्षा भी अधिक प्राचीन है।

चालदिया के साथ भारतवर्ष के सम्बन्ध की बात कही जा चुकी है। मशिये लेनोर्मान्ट ने कहा है कि आर्यलोग विश्व के कल्याणकारी देवताओं को पूजा करते थे। किन्तु चालदिया-निवासी अहितकारी देवताओं के ही उपासक थे। यज्ञद्वारा वेद के देवताओं को सन्तुष्ट किया जाता था। किन्तु इन्द्रजालादि द्वारा चालदीय देवताओं की आराधना होती थी। यह सम्भव प्रतीत होता है कि आर्य लोगों ने इन्हीं लोगों के निकट इन्द्रजालिक-विद्या सीखकर उसे अथर्ववेद में निविष्ट किया हो। 'त्रयी' नाम से यह जाना जाता है कि आदि वेद तीन ही हैं, ऋक्, यजुस् और साम। अथर्ववेद बहुत पीछे का है। यह अन्य वेदों की अपेक्षा आधुनिक होने पर भी ईसा से २५०० वर्ष पूर्व का है—क्योंकि ब्राह्मण और उपनिषद् में इसका नाम पाया जाता है (१)।

इस लेख में जिन प्रसंगों की चर्चा की गई है उनसे वैदिक-साहित्य के अति-प्राचीनत्व के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं जान पड़ता। महात्मा तिलक ने प्राचीन ऋक्-मंत्र-द्रष्टा-ऋषियों का आविर्भाव-काल ईसा के ६००० वर्ष पूर्व बतलाया है और यह असम्भव प्रतीत नहीं होता।

---

(१) Bhandarkar's *Commemoration Essays. The Chaldean and Indian Vedas.*

वैष्णव-धर्म का दार्शनिक आधार

'वैष्णव-धर्म की उत्पत्ति और विकास' शीर्षक लेख में (पृष्ठ ५६ से ८८ तक देखिये) मैंने दिखाया था कि श्रीकृष्ण ने भागवत एकान्तिक, पञ्चरात्र, सात्वत वा वासुदेव धर्म का प्रचार किया था। श्रीकृष्ण छान्दोग्य उपनिषदुक्त सूर्योपासक घोर आङ्गिरस ऋषि के शिष्य थे। गीता का बीज इन्हीं ऋषि के उपदेशों में निहित है, और श्रीकृष्ण ने अपनी प्रतिभा से उस बीज को गीतारूपी महान् महीरूह में परिणत करके अपने शिष्यों (अर्थात् भागवतों) को शिक्षा दी थी। इन उपदेशों को पीछे उनके शिष्य-सम्प्रदाय ने लिपिबद्ध करके प्रचार किया था। और यह काव्य महाभारतान्तर्गत प्राचीन काव्यों में गिना जाता है।

गीता में भागवत धर्मोक्त 'व्यूहवाद' का उल्लेख नहीं है, किन्तु घसुंडी और बेसनगर के शिलालेखों तथा पातञ्जल महाभाष्य में, जो ईसा से पूर्व द्वितीय शताब्दी का है, उल्लेख मिलता है। अतएव भागवत धर्म में व्यूहवाद का प्रवेश गीता के प्रचार के पीछे और ईसा से पूर्व द्वितीय शताब्दी के पहले हुआ था। गुप्त-काल के किसी शिला-लेख में व्यूहों का इशारा नहीं मिलता। इस समय अवतार-वाद ने ज़ोर मारा था। अवतारवाद की प्रबलता के कारण व्यूहवाद का लोप हो गया था, और व्यूहवाद के निराकरण से ही भागवत-धर्म वैष्णव धर्म में परिवर्तित हो गया था। गुप्तों के समय कृष्ण और विष्णु अभिन्न माने गये थे। और सांख्य दर्शन का प्रभाव वैष्णव-धर्म पर पड़ा था। प्रकृति और पुरुष के आदर्श से युगल रूप की अराधना जारी हुई थी।

इसके पीछे दाक्षिणात्य में ही वैष्णव धर्म का अनुशीलन ज़ोर-शोर से हुआ था। तामिल देश में एक श्रेणी के भक्तों का आविर्भाव हुआ था, जो 'आलवार' कहलाते थे। नानाघाट के गुहा-

लेख से मालूम होता है कि ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी के पहले ही भागवत धर्म ने तामिल देश में प्रवेश-लाभ किया था। आभीर नामक एक जाति ईस्वी संवत् के बहुत पहले ही उत्तर भारत में बस गयी थी और भारतीय जन-समूह में मिल गयी थी। मथुरा प्रान्त इस जाति का केन्द्र था और इसकी एक शाखा पाण्ड्य राज-वंश के साथ तामिल देश में पहुँची थी। इस जाति के उपास्य देवता गोप कृष्ण थे। यही जाति पीछे दाक्षिणात्य में फैली थी और अपने साथ श्रीकृष्ण के बाल्यजीवन की कहानियाँ ले गयी थी। सम्भवतः इन कहानियों के आधार पर भक्तिमार्ग की साधना का उस देश में विशेष विकास हुआ था। आलवार-लोग श्रीकृष्ण के उपासक थे। और उन्होंने अपने रचित भजनों में भक्ति की पराकाष्ठा दिखायी थी। बारह 'आलवार' प्रसिद्ध थे।

दाक्षिणात्य में आलवारों के पश्चात् 'आचार्यों' का अभ्युदय हुआ था। वे वैष्णव-धर्म के ज्ञान-मूलक तथा दार्शनिक तत्त्वों की आलोचना में नियत थे। प्रथम आचार्य नाथमुनि थे। उन्होंने अपने 'न्यायतत्त्व' नामक ग्रन्थ में विशिष्टाद्वैतवाद के सब तत्त्वों की विस्तार से आलोचना की थी। इनके पौत्र यामुनाचार्य ने श्रीवैष्णव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की थी। इन्होंने अपने 'सिद्धित्रय' नामक ग्रन्थ में 'अविद्या' का खण्डन किया था और जीवात्मा तथा परमात्मा की वास्तवता प्रमाणित की थी। इन्होंने अपने 'गीतार्थ संग्रह' में दिखाया है कि गीता में मुख्यतः भक्ति-योग की शिक्षा दी गयी है। वैष्णव-धर्म के विकास के इतिहास में यामुनाचार्य का स्थान बहुत ऊँचा है।

यामुनाचार्य के परवर्ती आचार्य रामानुजाचार्य थे। रामानुजाचार्य ने यामुनाचार्य के मतों के आधार पर विशिष्टाद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की थी। विशिष्टाद्वैतवाद में शङ्कराचार्य-प्रतिष्ठित-अद्वैतवाद का खण्डन है। शङ्कराचार्य ज्ञानमार्ग के समर्थक थे

और विशिष्टाद्वैतवादी वैष्णवगण भक्तिमार्ग के। रामानुज कहते हैं कि जगत् मिथ्या नहीं है,—प्रत्युत ब्रह्म से अभिन्न है—लीला-मय की लीला का विकासमात्र है।

रामानुज के पूर्ववर्ती कई मनीषी थे जिन्होंने विशिष्टाद्वैतवाद का समर्थन तथा पुष्टि-साधन किया है—टङ्क, द्रविड़, गुहदेव; शठकदमन तथा नाथमुनि। अतएव देखा जाता है कि विशिष्टा-द्वैतवाद रामानुज का कल्पना-प्रसूत नया मत नहीं है। रामानुज ने केवल नाना प्रमाण तथा युक्तियों के द्वारा सुपरिचित प्राचीन मत को सुप्रतिष्ठित किया है।

आचार्य शङ्कर ने जिस समय अद्वैतवाद का प्रचार किया था, उस समय बौद्धधर्म का पूर्ण प्रभाव था। अतएव विशाल बौद्ध धर्म ही उस समय अद्वैतवाद के प्रचार का घोर विरोधी था, किन्तु शैवों के सिवा आचार्य रामानुज के कोई प्रतिपक्ष न थे। उनको उस समय शङ्कर के मतों के खण्डन का ही प्रयोजन था। शङ्कर ने अपने मतों के समर्थन के लिये प्रसिद्ध-प्रसिद्ध उपनिषदों से प्रमाण संग्रह किया था। किन्तु रामानुज को यह सुविधा नहीं मिली थी। विवश होकर उन्हें दूसरे दर्जे के उपनिषदों का सहारा लेना पड़ा था। अपने मत के स्थापन में वह कहाँ तक सफल हुए थे यह कहना कठिन है। किन्तु साहस के साथ यह कहा जा सकता है कि शङ्कर के जितने विपक्ष हैं, उनमें रामानुज का स्थान सब से ऊँचा है। कहीं-कहीं रामानुज की प्रतिभा के समीप शङ्कर की प्रतिभा भी म्लान-सी प्रतीत होती है। किन्तु रामानुज की भाषा शङ्कर की भाषा के समान सरल तथा मधुर नहीं है। जिन विषयों में शङ्कर के साथ रामानुज का मतभेद है, उनके संक्षिप्त विवरण नीचे दिये जाते हैं।*

---

*महामहोपाध्याय श्रीयुक्त दुर्गाचरण सांख्यवेदान्ततीर्थ।

(१) शङ्कर ने कहा है—'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियों से जाना जाता है कि ब्रह्म एक, अखण्ड और अद्वितीय हैं—स्वजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदशून्य हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।

रामानुज ने कहा है—यह ठीक है कि ब्रह्म एक तथा अद्वितीय है, किन्तु वह निरंश नहीं हैं, और उनका स्वजातीय तथा विजातीय भेद न रहने पर भी उनका स्वगत भेद अवश्य है,—जीव तथा जगत् ही उनके स्वगत भेद हैं।

(२) शङ्कर ने कहा है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च', इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित होता है कि ब्रह्म हैं सत्य, ज्ञान तथा आनन्दस्वरूप, और भी वह हैं साक्षीवत् उदासीन, निर्गुण और निर्विशेष शुद्ध चैतन्य।

रामानुज ने कहा है—'ब्रह्म निर्गुण नहीं—वह हैं ज्ञान, आनन्द, दया इत्यादि निखिल सद्गुणों के आकर। वह निर्विशेष भी नहीं हैं—वह हैं सविशेष; ज्ञान, आनन्द इत्यादि उनके विशेष धर्म हैं, और चेतनाचेतन-समन्वित जगत् भी उनका विशेषणभूत शरीर है। जिन श्रुतियों में उनके निर्गुणत्व का उल्लेख है, उनका अर्थ है कि ब्रह्म में हेय प्राकृतिक गुण-सम्बन्ध नहीं है।'

(३) शङ्कर ने कहा है—दृश्यमान जगत्-प्रपञ्च मिथ्या: मायामय है; वह माया ब्रह्म की शक्ति होने पर भी अनिर्वचनीय तुच्छ पदार्थ है।

रामानुज ने कहा है—जगत् मायामय होने पर भी असत्य नहीं। जगत् ब्रह्म से उत्पन्न है और ब्रह्म का शरीरस्थानीय है—अतएव मिथ्या नहीं हो सकता। और ब्रह्म-शक्ति माया जब ब्रह्म में ही आश्रित है तब वह अनिर्वचनीय मिथ्या पदार्थ नहीं हो सकता।

(४) शङ्कर ने कहा है—जीव ब्रह्म का ही आभास वा प्रतिबिम्ब है, और ब्रह्म के ही समान स्वभाव-विशिष्ट स्वप्रकाश और नित्य-मुक्त है।

रामानुज ने कहा है—जीव कभी ब्रह्म का आभास या प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता, और स्वप्रकाश तथा नित्य-मुक्त भी नहीं है। जोव अग्नि-स्फुलिंग की नाईं ब्रह्म से निर्गत हुआ है और ब्रह्म का अंश है। जीव ब्रह्म का समस्वभाव नहीं है—जीव है अणु या क्षुद्र, और ब्रह्म है विभु या अति महान्। जीव है अल्पज्ञ और अल्पशक्ति, और ब्रह्म हैं सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान्—जगत् के स्वामी।

(५) शङ्कर ने कहा है—घट टूटने पर घटाकाश जैसे महाकाश में मिल जाता है—उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती, वैसे ही बुद्धिरूप उपाधि के चले जाने पर जीव भी परब्रह्म के साथ मिल कर एक हो जाता है—तब उसका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता—कुछ भोग्य भी नहीं रहता।

रामानुज ने कहा है—जब जीव ब्रह्म का ही अंश है, और क्षुद्र तथा क्षुद्र-शक्ति-सम्पन्न है, तब उसके लिए ब्रह्म के साथ एकीभावापन्न होना कभी सम्भव नहीं। जीव अब भी जैसे पृथक् है बराबर वैसे ही पृथक् रहेगा। मुक्ति-दशा में केवल ब्रह्मानन्द का अनुभव करना ही उसका विशेष लाभ है।

(६) शङ्कर ने कहा है—'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्य सुनने से जो विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी से जीव का अज्ञान और अज्ञानज संस्कारसमूह नष्ट हो जाते हैं। जीव अपने ब्रह्मभाव का अनुभव करता है—'अहंब्रह्मास्मि' यही उसकी मुक्ति की अवस्था है।

रामानुज ने कहा है—ध्रुवानुस्मृतिरूपा भक्ति ही जीव की मुक्ति का एकमात्र उपाय है। भक्तिसेवित भगवत्-प्रसाद से ही

जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता है। किन्तु क्षुद्र जीव कभी ऐसा अनुभव नहीं कर सकता कि मैं ब्रह्म हूँ। जीव है क्षुद्र, ब्रह्म हैं महान्। जीव है अधीन दास और ब्रह्म हैं उसका सेव्य प्रभु। दास होते हुए अपने-आपको प्रभु समझना भारी अपराध है। जो जीव भ्रम से अपने-आपको ब्रह्म खयाल करता है वह राजद्रोही प्रजा के समान दंड के योग्य होता है, मुक्ति तो दूर की बात है। 'तत् त्वमसि' वाक्य का अर्थ है—तू उनका है—दास या सेवक है। 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य साधक का उत्साहवर्धक स्तुतिवाक्यमात्र है, यथार्थ ऐक्योपदेशक नहीं।

(७) शङ्करने कहा है—माया, अविद्या तथा अज्ञान ये तीनों एक ही पदार्थ हैं, केवल नामों में इनकी विभिन्नता है। यही माया ब्रह्म को आश्रय कर के नाना विवर्त (भ्रम) के कार्य उत्पन्न करती है।

रामानुज ने कहा है—माया और अज्ञान एक ही पदार्थ नहीं हैं। माया है भगवत्-शक्ति और ब्रह्म में आश्रित। अज्ञान है ज्ञान का अभाव और जीव में आश्रित। अज्ञान जीव को ही विमोहित कर रखता है—अनन्त ज्ञानाधार ब्रह्म को स्पर्श तक नहीं कर सकता। यह अज्ञान ही जीव को संसार में आबद्ध किये रहता है, फिर भक्तिलब्ध भगवत्-प्रसाद उपस्थित होने से अपने आप अन्तर्हित हो जाता है।

(८) शङ्कर ने कहा है—'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य से उत्पन्न ज्ञान ही मुक्ति-लाभ का एकमात्र साधन है, दूसरा कोई उपाय नहीं।

रामानुज ने कहा है—ज्ञान भी मुक्ति का सहायक है, किन्तु भक्ति ही मुक्ति लाभ का प्रधान उपाय है। भक्तिसेवित भगवत्-प्रसाद से ही जीव ब्रह्म-सायुज्यादिरूप मुक्ति प्राप्त कर कृतार्थ होता है।

(६) शङ्कर ने कहा है—जीव इसी देह में ही ब्रह्म-साक्षात्कार पाकर जीवन-मुक्त हो सकता है, और जीवन-मुक्त देहान्त के बाद लौकिक सुख-दुःख से अतीत हो कर सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

रामानुज ने कहा है—जीव की जीवन-मुक्ति एक असार वाक्य है—देह रहते हुए किसी की मुक्ति सम्भव नहीं। देह छूट जाने पर भी जीव जीव ही रहता है—कभी ब्रह्म नहीं होता। उस समय वह ब्रह्मानन्द का उपभोग करता हुआ सब तरह के भय से मुक्त रहता है।

(१०) शङ्कर ने कहा है—जीव में कौन वस्तु नित्य है, कौन वस्तु अनित्य है इस ज्ञान का उदय पहले होता है। तब ब्रह्म-जिज्ञासा का अधिकार होता है।

रामानुज ने कहा है-पहले नित्यानित्य का ज्ञान नहीं होता—पहले कर्म तथा कर्म-फल की अनित्यता इत्यादि का ज्ञान होता है; उसके बाद ब्रह्म-जिज्ञासा में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद ही वैष्णव धर्म की मूल भित्ति है। इसी का विकास हुआ है परवर्ती वैष्णव आचार्यों के द्वारा।

माध्व-संप्रदाय

मैंने "रामानुज"-शीर्षक लेख में वैष्णवों के चार संप्रदाय का उल्लेख किया है—(१) श्री-संप्रदाय, (२) माध्व-संप्रदाय, (३) सनक-संप्रदाय और (४) रुद्र-संप्रदाय। इनमें से श्री-संप्रदाय का विवरण "रामानुज"-शीर्षक लेख में दिया गया है। अब माध्व-संप्रदाय का विवरण दिया जाता है।

आनंदतीर्थ या मध्वाचार्य माध्व-संप्रदाय के प्रतिष्ठाता हैं। इनके पिता का नाम मध्यगेह भट्ट था। मध्यगेह-वंश के लोग दक्षिण कनारा-ज़िले के अंतर्गत उडिपि ताल्लुका के कल्याणपुर या रजतपीठ नगर के रहनेवाले थे। १०४० शकाब्द (अर्थात् १११६ ई० वा ११७६ संवत्) में मध्वाचार्य का जन्म हुआ था। वह पुरुषोत्तमतीर्थ या अच्युत प्रेक्षाचार्य के शिष्य थे। आनंदतीर्थ ७९ वर्ष जीवित रहे। उनकी मृत्यु ११९८ शकाब्द में हुई थी। आनंदतीर्थ के बाद पद्मनाभतीर्थ इस संप्रदाय के नेता हुए, और पद्मनाभ के बाद नरहरितीर्थ। जन्म के समय मध्व का वासुदेव नाम रक्खा गया था। वासुदेव ने ब्राह्मण-बालकों के लिये निर्दिष्ट शिक्षा दक्षिण-देश-स्थित अनंतेश्वर के मंदिर में पाई थी। छोटी ही अवस्था में उन्होंने संन्यास ग्रहण किया था। संन्यास के बाद उनका नाम आनंदतीर्थ पड़ा।

माध्व-संप्रदाय के वैष्णव लोग वैशेषिक-दर्शन का अनुसरण करते हैं। पद्मनाभसूरि-कृत 'मध्व-सिद्धांत-सार' से ज्ञात होता है कि वैशेषिक दर्शन की नाईं माध्वों ने भी पदार्थों को द्रव्य, गुण इत्यादि में बाँटा है। अवश्य इन्होंने थोड़ा-सा परिवर्तन कर लिया है। परमात्मा के गुण असंख्य हैं, और उनकी शक्तियाँ आठ—(१) सृष्टि, (२) पालन, (३) विनाश, (४) शासन, (५) ज्ञान-दान, (६) आत्मप्रकाश, (७) जीवों को संसार में

आवद्ध करना. (८) मोक्षदान। परमात्मा सर्वज्ञ, सब शब्दों से प्रकाश-योग्य और जीव तथा अजीव से संपूर्ण भिन्न हैं। उनकी देह चिन्मय, आनंदमय इत्यादि है, और वह सब पदार्थों से स्वतंत्र और अद्वितीय हैं। वह नाना आकार धारण करते हैं। उनके भिन्न-भिन्न आकारों में उनका संपूर्ण प्रकाश है, और वह अपने अवतारों के साथ गुणों, अंशों तथा क्रियाओं में संपूर्ण एक हैं। लक्ष्मी परमात्मा से भिन्न हैं; पर परमात्मा के संपूर्ण अधीन हैं। वह अनादि, अनंत और परमात्मा की नाईं मुक्त हैं। उनके भी नाना आकार हैं; परन्तु ये आकार परमात्मा के आकारों की नाईं सूक्ष्म पदार्थों से बने हैं। परमात्मा सर्वत्र और सब कालों में विद्यमान हैं; लक्ष्मी भी सर्वत्र और सब कालों में विद्यमान हैं, अतएव परमात्मा के साथ सदा संयुक्त हैं। जीवों को निर्दिष्ट-संख्यक योनियों में भ्रमण करना पड़ता है, और अज्ञान इत्यादि उनके लक्षण हैं। जीव असंख्य हैं, और उनमें भिन्नता है, उनके भिन्न-भिन्न वर्ग हैं। किसी वर्ग के जीव ब्रह्मत्व पाने के योग्य हैं, और किसी वर्ग के जीव रुद्रत्व, गरुड़त्व, असुरत्व, राक्षसत्व इत्यादि के। जीव तीन प्रकार के हैं—(१) जो मोक्ष के उपयुक्त हैं, (२) जो पुनः-पुनः संसार में घूम रहे हैं, और (३) जो अंधकार में रहने के योग्य हैं। देवतागण, ऋषिगण, पितृगण और उत्तम मनुष्यगण प्रथम श्रेणी के, साधारण मनुष्य द्वितीय श्रेणी के, और अधम मनुष्य राक्षस, प्रेत इत्यादि तृतीय श्रेणी के जीव हैं।

पुराणों का सृष्टि-प्रकरण सांख्य-दर्शन के आधार पर निर्मित है। माध्वों ने सृष्टि के विषय में पुराणों का अनुसरण किया है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। अव्यक्त अवस्था में सत्त्व, रजः, तम का साम्य रहता है। परमात्मा के द्वारा जब इस साम्यावस्था का व्याघात हो जाता है, तब प्रकृति महत्, अहंकार, पंचतन्मात्र

इत्यादि तत्त्वों में विकृत होकर ब्रह्मांड की सृष्टि करती है। परमात्मा तब चित् तथा अचित् पदार्थों को अपने भीतर लेकर ब्रह्मांड में प्रवेश करते हैं। इस अवस्था में लाखों वर्ष बीत जाने के बाद वह अपनी नाभि में एक कमल उत्पन्न करते हैं, जिसमें ब्रह्मा का जन्म होता है। तब बहुत समय के बाद ब्रह्मा इस जगत् की सृष्टि करते हैं।

जितना ज्ञान है, सब परमात्मा से उत्पन्न होता है। ज्ञान दो प्रकार का है—(१) सांसारिक, तथा (२) मोक्षप्रद। सांसारिक ज्ञान से देह में या स्त्री-पुत्र में आसक्ति उत्पन्न होती है। यह ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं, बल्कि अज्ञान है। परंतु ईश्वर के यथार्थ ज्ञान से यह अज्ञान दूर होता है। विशेष कर्म और सेवा के द्वारा अधिकारियों को हरि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान मोक्ष का हेतु है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये आवश्यक हैं—(१) वैराग्य, अर्थात् पार्थिव उपभोग में विरक्ति, (२) शम अर्थात् निर्विकार भाव, और दम अर्थात् आत्म-संयम, (३) शास्त्र-ज्ञान, (४) शरणागति, अर्थात् ईश्वर पर संपूर्ण निर्भरता, (५) गुरु-सेवा, (६) दीक्षा अर्थात् गुरु से ऐसे विषयों की वाचनिक शिक्षा, जो पुस्तकों में नहीं मिलती, (७) शास्त्रार्थ-चिंतन, (८) गुरु-भक्ति, (९) परमात्म-भक्ति, (१०) प्रेम, (११) निष्काम कर्म, (१२) निषिद्ध कर्मों का परिहार, (१३) कर्म का फल हरि को अर्पण, (१४) विभिन्न प्रकार के जीवों की मर्यादा की भिन्नता तथा विष्णु की सर्वश्रेष्ठता का ज्ञान, (१५) प्रकृति से पुरुष की भिन्नता का ज्ञान, अर्थात् नारायण से लेकर सस्त्रीक सब मनुष्य पुरुष हैं, और सब अचेतन पदार्थ प्रकृति हैं, (१६) भ्रम-पूर्ण मतों का तिरस्कार, (१७) उपासना अर्थात् शास्त्राध्ययन तथा निदिध्यासन (अर्थात् सब विषयों को छोड़कर केवल भगवान् में मन लगाना)। कोई-कोई भगवान् के अविभक्त भाव की

चिंता करते हैं, और कोई-कोई उनको चार भावों से युक्त—सत् (अस्तित्व), चित् (ज्ञान), आनंद और आत्मा—समझ कर उनका ध्यान करते हैं। ब्रह्मदेव से लेकर मनुष्य तक को हरि का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव है। मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान की तुलना बिजली की चमक के साथ, और देवतों के प्रत्यक्ष ज्ञान की तुलना सूर्य-मंडल की उज्ज्वलता के साथ की जा सकती है।

माध्व-संप्रदाय के लोग नाक और ललाट पर टीका लगाते हैं। ललाट पर गोपीचंदन की दो ऊर्ध्व रेखाएँ रहती हैं। उनके बीच में एक काली रेखा (जिसके मध्यस्थल में एक लाल बिंदु) रहती है। दोनों श्वेत रेखाएँ नाक के ऊपर मिला दी जाती हैं। कंधों, बाहुओं इत्यादि स्थानों पर चंदन से बनाए हुए शंख, चक्र, गदा, पद्म इत्यादि चिह्न रहते हैं। दक्षिण-भारत में इस संप्रदाय के वैष्णवों की संख्या अधिक है, उत्तर-भारत में यहाँ-वहाँ एक-आध पाये जाते हैं।

आनंदतीर्थ ने ३७ ग्रंथों की रचना की थी। उन्होंने अपने ग्रंथों के बनाने में पंचरात्र-संहिताओं की कुछ सहायता ली थी; पर इनमें व्यूहों तथा वासुदेव का उल्लेख नहीं है। परमात्मा का नाम विष्णु दिया गया है। उनके अवतार राम और कृष्ण की भी अर्चना होती है; परंतु गोपाल-कृष्ण, राधा और गोपियों का कहीं भी उल्लेख नहीं है। वैष्णव-धर्म ने प्राचीन भागवत-धर्मांतर्गत वासुदेव-मत का स्थान ग्रहण किया।

आनंदतीर्थ का ब्रह्मसूत्र-भाष्य उनके मत का एक प्रामाणिक मार्ग-दर्शक ग्रंथ है। उनके उच्च दार्शनिक मत उनके रचित "पूर्ण-प्रज्ञा-दर्शन" में लिपि-बद्ध है। जयतीर्थ, जो शिष्य-परंपरा में पाँचवीं पुश्त के थे, इस संप्रदाय के एक माननीय

नेता थे। उन्होंने निम्नलिखित ग्रंथ संस्कृत-भाषा में लिखे थे—(१) तत्त्व-प्रकाशिका, (२) न्याय-दीपिका, (३) तत्त्व-संख्या-नाटिका, (४) उपाधि-खंडन, (५) उपाधि-खंडनटीका, (६) माया-राहु-खंडन, (७) तत्त्व-निर्णयटीका, (८) शुभ। उनका जन्म १२४५ ई० में हुआ था और वह ४६ वर्ष जीवित रहे।

नीचे माध्व संप्रदाय की गुरु-परंपरा की सूची दी जाती है। कवि कर्णपूर की (१५२६ ई० की) लिखी गौरांगणोद्देश-दीपिका ग्रंथ से यह सूची ली गई है—(१) मध्वाचार्य, (२) पद्मनाभाचार्य, (३) नरहरि, (४) अक्षोभ, (५) जयतीर्थ, (६) ज्ञानसिंधु, (७) महासिंधु, (८) विद्यानिधि, (९) राजेंद्र, (१० जयधर्म, (११) पुरुषोत्तम, (१२) व्यासतीर्थ, (१३) लक्ष्मीतीर्थ, (१४) माधवेंद्र-पुरी (१५) ईश्वरपुरी, (१६) श्रीचैतन्य।

माधवेंद्रपुरी माध्व-संप्रदाय के प्रथम आचार्य थे, जिनका नाम बंग-देशीय वैष्णवों में सम्माननीय हुआ था। संवत् १४५७ (१४०० ई०) में उनका जन्म होने का पता मिलता है। संभव है, वह बंग-देश-वासी हों।

माधवेंद्रपुरी के तीन शिष्यों का प्रभाव चैतन्यदेव पर पड़ा था। इन शिष्यों के नाम हैं—

(१) अद्वैताचार्य, (२) ईश्वरपुरी, और (३) केशव भारती।

अद्वैताचार्य श्रीहट्ट (सिलहट) के अंतर्गत लाउड़-ग्राम के रहनेवाले थे। उनके पितामह नृसिंह लाउड़ेल राजा गणेश के मंत्री थे। राजा गणेश दस वर्ष के लिये गौड़ के सम्राट् हुए थे। नृसिंह लाउड़ेल ने शांतिपुर में गंगा-तीर पर एक मकान बनवाया था। इस मकान में वह कभी-कभी आकर रहा करते थे। अद्वैताचार्य के पिता कुबेर तर्क-पंचानन लाउड़ के राजा कृष्णदास के सभासद थे। वह भी कभी-कभी शांतिपुर में आकर रहते थे। परंतु अद्वैताचार्य के समय से इस परिवार

का वास शांतिपुर में हो गया। अद्वैताचार्य का जन्म १४६० संवत् में हुआ था, और मृत्यु के समय उनकी अवस्था १०७ वर्ष की थी। वह बड़े भारी विद्वान् थे, और उपनिषदों में उनका बड़ा भारी पांडित्य था। विद्या, सदाचार और भक्ति के लिये नवद्वीप में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। भक्ति की शिक्षा अपने गुरु माधवेंद्रपुरी से ली थी। नवद्वीप उस समय वंग-देश की एक विराट् पाठशाला थी। यहाँ के स्मार्त-पंडित रघुनंदन और नैयायिक पंडित वासुदेव सार्वभौम तथा रघुनाथ शिरोमणि के नाम प्रसिद्ध हैं। नवद्वीप में शास्त्र-चर्चा बहुत थी; परंतु धर्म-चर्चा बहुत ही कम। उस समय के लोगों की धर्म में अनासक्ति देखकर अद्वैताचार्य अत्यंत व्यथित हुए थे, और चाहते थे कि वंग-देश में भक्ति की धारा प्रवाहित हो। वंग-देशीय वैष्णवों का ऐसा विश्वास है कि अद्वैताचार्य ने परमात्मा से आंतरिक प्रार्थना की थी कि वंग-देश में ऐसे एक महापुरुष का आविर्भाव हो, जिसके द्वारा वंग-देश-वासियों को धर्म-जीवन का लाभ हो। परमात्मा ने उनकी बात सुनी। वंगीय वैष्णव-ग्रंथों में पाया जाता है कि अद्वैताचार्य के अभीष्ट को पूर्ण करने के लिये श्रीचैतन्य धरा-धाम में अवतीर्ण हुए थे।

१५४३ संवत् में चैतन्य का जन्म हुआ था। बीस वर्ष की अवस्था होने के पहले ही चैतन्यदेव सब शास्त्रों का अध्ययन समाप्त कर विद्यार्थियों को पढ़ाने लगे; परंतु इन युवक की धर्म में मति नहीं मालूम होती थी। ईश्वरपुरी कभी-कभी नवद्वीप में आया करते थे, और उन्हें धर्म-शिक्षा देने की चेष्टा करते थे। परंतु यौवन की चपलता ने उन्हें घेर रक्खा था। माधवेंद्र की बातों को वह हँसकर उड़ा देते थे।

चैतन्य की धर्म-हीनता उनका एक छद्म वेश था। उनके हृदय पर अद्वैताचार्य का प्रभाव पड़ा था। उनका चरित्र निर्मल

था। चापल्य उनका खेल था। इस निर्मल, पवित्र सरल हृदय में भक्ति का संचार कैसे हुआ, इसका इतिहास अपूर्व है। पितृ-पिंडदान के लिये वह गयाजी गए। तीर्थस्थान में ईश्वरपुरी की भक्ति का उच्छ्वास देखकर वह विस्मित हो गये। भक्तिमान् ईश्वरपुरी की मूर्ति उनके हृदय-पट पर देव-छवि की नाईं अंकित हो गई। जब वह विष्णु-पद पर पुष्पांजलि देने के लिए खड़े हुए, तब उनको याद पड़ी, कि इन्हीं चरणों से भगवती सुरधुनी निःसृत हुई थी, इन्हीं चरणों से बलि दलित हुआ था, इन्हीं चरणों की धूलि मस्तक पर धारण करने के लिये शुक संन्यासी और नारद विरागी हुए थे। उसी क्षण वह मूर्च्छित होकर भूतल पर गिर पड़े। मूर्च्छा-भंग के बाद उनके नयनों से अजस्र अश्रु-वर्षण होने लगा, और वाष्प-रुद्ध कंठ से उन्होंने साथियों से कहा—"तुम घर लौट जाओ, मैं अब प्राणेश्वर को देखने के लिये मथुरा चलता हूँ।"

ईश्वरपुरी ने उनको दीक्षा दी थी। २४ वर्ष की अवस्था में केशव भारती से उनको संन्यास मिला। अब वह और उनके अनुचरगण वंग-देश को भक्ति-धारा से प्लावित करने लगे।

अति प्राचीन काल से वृंदावन वैष्णवों के महातीर्थों में परिगणित है। यह मथुरा से ३ कोस उत्तर यमुना के किनारे पर है। 'वृंदा' शब्द का अर्थ है तुलसी, अतएव वृंदावन शब्द का अर्थ है तुलसी का जंगल। पूर्व काल में १४५ वर्ग मील-विस्तृत व्रजमंडल बड़े-बड़े सुंदर मंदिरों तथा अट्टालिकाओं से सुशोभित था। १०१७ ई० में सुलतान महमूद ने मथुरा पर चढ़ाई कर यहाँ के मंदिरों तथा इमारतों को भूमि-सात् कर दिया था। सिकंदर लोदी ने भी १४८८ से १५१५ ई० तक आक्रमण कर इस नगर को उजाड़ दिया था। अतएव सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में सारा व्रजमंडल उजाड़ जंगल हो रहा था। इस

लुप्त तीर्थ का उद्धार चैतन्य और उनके अनुचरों के द्वारा संपन्न हुआ। अकस्मात् मानों इंद्रजाल के द्वारा यहाँ अनेक भारी-भारी इमारतें बन गईं। मथुरा के इतिहास-लेखक मिस्टर ग्राउज़ कहते हैं—"अन्य देशीय वैष्णवों की अपेक्षा बंगाली वैष्णवों का प्रभाव वृंदावन पर अधिक पड़ा था, क्योंकि चैतन्य के शिष्यों ने ही पहले-पहल यहाँ मंदिर बनाये थे।"

प्रसिद्ध माध्व योगी माधवेंद्रपुरी ने, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है, अपने जीवन का बहुत समय वृंदावन के जंगलों में, यमुना के किनारे पर, बिताया था। उनके पवित्र जीवन तथा भक्ति की व्यग्रता देखकर बहुत से बंगाली तीर्थ-यात्री वृंदावन की ओर आकृष्ट हुए थे। उनमें से कुछ उनके शिष्य भी हो गए थे। संन्यासीजी को भिक्षा करने का अभ्यास नहीं था। दैवयोग से जो कुछ उन्हें मिल जाता था, वही वह खा लेते थे। यदि किसी दिन कुछ नहीं मिलता था, तो उपवासी रह जाते थे। रात-दिन कृष्ण की श्याम मूर्ति के ध्यान में लगे रहते थे। मेघ का श्याम-अंग तथा वनस्थल या पर्वत की श्याम आभा देखकर उनको अतिशय आनंद होता था, और वह इनको असीम के प्रतिरूप समझते थे। समय-समय पर उनकी समाधि लग जाती थी। उनकी व्याकुलता उनको मस्त कर देती थी।

वृंदावन में पहुँचकर वह संध्या के समय एक वृक्ष के तले बैठे। उनको याद न थी कि दिन-भर उन्होंने कुछ खाया नहीं। उनके मनश्चक्षु के सामने की श्याम मूर्ति ने उन्हें जिला रक्खा था। यहाँ एक कृष्ण-काय गोप बालक आकर उन्हें एक पात्र दूध दे गया। बालक का चेहरा उन्हें बहुत अच्छा लगा। रात को सपने में बालक ने उन्हें दिखाई देकर कहा—"अन्नकूट पहाड़ पर घने जंगल में मिट्टी के नीचे मैं गड़ा हूँ। मूर्ति तोड़ने-वाले यवनों से बचाने के लिये एक ब्राह्मण ने मुझे गाड़ रक्खा था।

मैं बहुत दुःखी हो रहा हूँ, माधव। मैं कुंजों का स्वामी हूँ। मेरी रक्षा करो। मैं बहुत दिनों से तुम्हारी अपेक्षा कर रहा था। जिन थोड़े मनुष्यों का मेरे प्रति प्रेम है, उनमें से एक तुम हो।" माधव ने उस मूर्ति का उद्धार किया, और अभिषेक कर गोवर्द्धन में उनकी स्थापना की।

पुंडरीक विद्यानिधि, जिनका चैतन्य पिता के सदृश सम्मान करते थे, और गदाधर पंडित के पिता माधव मिश्र भी माधवेंद्रपुरी के शिष्य थे। चैतन्य को माधवेंद्र के दर्शनों का सौभाग्य नहीं हुआ था; क्योंकि चैतन्य के जन्म के दो वर्ष पहले ही माधवेंद्र का देहांत हो गया था। किंतु चैतन्य बहुत भक्ति के साथ उनकी स्मृति का पोषण करते थे, कारण उन्होंने सबसे पहले बंग-देश में भक्ति की अमृत-धारा प्रवाहित की थी।

माधवेंद्रपुरी की मृत्यु के पचास वर्ष पीछे लोकनाथ मिश्र और भूगर्भ आचार्य वृंदावन पहुँचे, और चैतन्य की आज्ञा से सदा के लिये वहाँ रहने लगे। उनके पवित्र जीवन तथा असाधारण भक्ति से लोग मोहित हो गये। यथार्थ योगियों की नाईं उनकी तपस्या थी। इस महातीर्थ में उन्होंने बहुत आनंद से जीवन व्यतीत किया, जिससे भविष्य वंश के कुछ बंगाली विद्वान् वैष्णव वृंदावन के प्रति आकृष्ट हुए।

इन विद्वानों में रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी दो भाई, कुछ पीछे उनके भतीजे जीव गोस्वामी, और उनके भी कुछ पीछे श्रीनिवास आचार्य, नरोत्तमदत्त, श्यामानंददास और कृष्णदास कविराज थे।

साधना

'साधना' शब्द से क्या समझा जाता है ? सिद्धि अर्थात् फल प्राप्ति के अभिप्राय से जो काम किया जाता है, उसका नाम है 'साधना'। संसार के सभी व्यापारों में इसके उदाहरण मिलते हैं। हल चलाना इत्यादि कामों से किसान को अन्न मिलता है, पाठाभ्यास के द्वारा विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण होता है, भोजन के द्वारा भूख मिटती है। ये हैं स्थूल या भौतिक जगत की कार्यावली के उदाहरण। किन्तु भौतिक जगत् के अतिरिक्त एक दूसरे जगत् में अधिकांश लोग विश्वासी हैं। उस जगत् का नाम है भाव जगत् अथवा अध्यात्म-जगत्। इस भाव-जगत् की एक वस्तु का नाम है 'जीवात्मा' और एक दूसरी वस्तु का नाम है 'परमात्मा'। दोनों ही चिन्मय हैं। दोनों ही मूलतः एक हैं—जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है; किन्तु जड-जगत् के प्रभाव में पड़कर जीवात्मा अज्ञान-तिमिराच्छन्न हो गया है, और भूल गया है कि मैं निर्विकार नित्य आनन्दमय परमात्मा का ही अंश हूँ। इसी कारण उसे दुःख-भोग करना पड़ता है।

चिद्-विशिष्ट वस्तुमात्र ही जीवात्मा है—मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, उद्भिज्ज। इनमें से जड़ का प्रभाव जिस पर जितना अधिक है, वह उतना ही अज्ञान-तिमिरान्ध हो रहा है। मनुष्य ही एक-मात्र जीव है, जो ज्ञान तथा अज्ञान की उपलब्धि करने में समर्थ है। मनुष्यों के भीतर भी ज्ञान तथा अज्ञान के तारतम्य के हेतु नाना स्तर हैं—पशु-प्रकृति से देव-प्रकृति तक।

उच्च प्रकृति के मानवगण समझ सकते हैं कि वे मूलतः शुद्धसत्त्व परमात्मा से उत्पन्न हैं, और तमोमय भौतिक जगत् के प्रभाव में पड़ कर परमात्मा से बहुत दूर हट गये हैं। क़ैदमुक्त

होकर वे फिर परमात्मा के साथ एकीभूत होने की आकांक्षा करते हैं। जिस कार्यावली की सहायता से वे इस फल को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, उसका नाम है साधना।

परमात्मा की उपासना के निमित्त दो विभिन्न प्रणालियाँ अवलम्बित होती हैं—कोई परमात्मा को सगुण समझते हैं, और कोई निर्गुण। निर्गुण उपासकों की संख्या बहुत थोड़ी है। अधिकांश उपासक परमात्मा के सगुण भाव का अवलम्बन कर ही उनकी आराधना करते हैं। सगुण परमात्मा ही ईश्वर या श्रीभगवान हैं।

ईश्वर जगत् से भिन्न हैं, किन्तु जगत् ईश्वर से भिन्न नहीं। वह जगत् के उपादान-कारण तथा निमित्त-कारण दोनों हैं। ईश्वर चेतन हैं और अपनी इच्छा से जगत् की रचना करके शासक के रूप में उसके प्रत्येक अवयव में प्रविष्ट होकर विराज रहे हैं। ईश्वर से परे एक स्वतन्त्र निर्विशेष तत्त्व है, जो मन तथा बुद्धि के अगोचर है। वह निर्विकार है, इस कारण प्रत्यक्ष रूप में जगत् का कारण नहीं हो सकता। निर्विशेष परमात्मा की उपासना नहीं हो सकती। जगत् के कारण अक्षर-पुरुष ईश्वर ही उपासना के उपयुक्त हैं। परमात्मा की स्वेच्छा-परिगृहीत गुण-विशिष्ट सत्ता ही ईश्वर है।

उपासकों ने उनकी जितनी मूर्तियों की कल्पना की है, वे केवल उनके सगुण भाव का अवलम्बन कर। वह एक होते हुए भी भक्तों की चित्त-वृत्ति के अनुसार नाना रूपों में प्रतिभात होते हैं। भेद है केवल नाम तथा रूप का। नाम और रूप छोड़कर जो तत्त्व मिलता है, वही यथार्थ तत्त्व है—वह परमात्मा के अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं।

उपासना के तीन मार्ग हैं—कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग। भक्ति द्वैतमूलक है और ज्ञान अद्वैतमूलक। व्यावहारिक कर्म-मार्ग में द्वैतभाव है और योग-मूलक कर्ममार्ग की अन्तिम अवस्था में द्वैत-ज्ञान विलुप्त हो जाता है। कर्म-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग की चरमावस्था है ज्ञान, और ज्ञान प्राप्ति का फल है मोक्ष। सब मार्गावलम्बियों का उद्देश्य है चरमावस्था में परमात्मा के साथ एकत्व लाभ करना। अन्त की अवस्था में ज्ञान तथा भक्ति में भिन्नता नहीं रहती। जीवात्मा के परमात्मबोध को प्राप्त होने के पश्चात् भी गौड़ीय वैष्णवगण परमात्मा तथा जीवात्मा के बीच सेव्य-सेवक-भाव प्रतिष्ठित रखना चाहते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान-लाभ होने के बाद भी, और परमात्मा के साथ मिल जाने के पश्चात् भी, जीवात्मा में भक्ति रह सकती है। यद्यपि ज्ञान के द्वारा 'मैं और तुम' का यथार्थ भेद लुप्त हो जाता है, तथापि पराभक्ति के प्रभाव से अद्वैत-समुद्र में भी (कल्पित) द्वैत-भाव की लहरें उठती हैं। संक्षेप में गौड़ीय वैष्णवगण भगवान् के साथ सायुज्य लाभ करते हुए भी उनकी सेवा के लिये उनके साथ भेद-भाव रखने को व्यग्र हैं। इसी में उन्हें अधिक आनन्द मिलता है, और यही उनकी भक्ति की पराकाष्ठा है।

कहा गया है कि साधना की प्रणालियाँ तीन हैं—कोई कोई कर्म के द्वारा, कोई कोई ज्ञान के द्वारा और कोई-कोई भक्ति के द्वारा परमार्थ प्राप्त करने के प्रयासी हैं। किन्तु कर्म के साथ सम्पर्क-रहित ज्ञान-मूलक अथवा भक्ति-मूलक साधना असम्भव है। किसी भी प्रकार की साधना में हम प्रवृत्त होना चाहें, पहले से ही कर्म की आवश्यकता है। पहला काम है, भगवान् में विश्वास करना। यह है ज्ञानमूल कर्म। यदि हम कर्ममूलक उपासना में प्रवृत्त हों, तो याग-यज्ञ, पूजा-पाठ, सन्ध्या-वन्दनादि कर्म करने

पड़ेंगे। किन्तु भगवान् या जिस किसी देवता के उद्देश्य से हम याग-यज्ञ, पूजा पाठ-में आत्म-नियोग करें, प्रथम ही उनके प्रति भक्ति उत्पन्न होना आवश्यक है। अतएव देखा जाता है कि कर्म मार्ग में ज्ञान तथा भक्ति की सहायता आवश्यक है।

ज्ञान मार्ग में चिन्ता, युक्ति, तर्क इत्यादि कर्म के द्वारा भगवान् में विश्वास स्थापन करके उनके स्वरूप की, तथा उनके साथ सृष्टि के सम्बन्ध की, उपलब्धि होनी चाहिये। श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, सम्प्रज्ञात समाधि, असम्प्रज्ञात समाधि—इन सब स्तरों को क्रमशः अतिक्रम करना होगा। अतएव ज्ञान के साथ कर्म तथा भक्ति का सम्बन्ध है।

भक्तिमार्ग में भी कर्म तथा ज्ञान का सम्बन्ध है। पहले ही ढूँढ़ निकालना होगा कि भगवान का अथवा जिस देवता के प्रति हम भक्ति अर्पण करना चाहते हैं, उनका स्वरूप क्या है। उसके पश्चात्, किस प्रणाली से हम उनके प्रति अपना प्रेम अर्पण करेंगे? हम उन्हें पिता या माता, या पुत्र या कन्या, या भ्राता या सखा, या प्रणयास्पद या प्रभु मानकर उसी सम्बन्ध के अनुसार उनके प्रति अनुराग प्रदर्शन करेंगे। यहाँ भी कर्म से छुटकारा नहीं।

कलिकाल में मानव के लिये भक्ति-मार्ग का अवलम्बन समीचीन है। भगवान् को प्रभु अथवा माता समझ कर अपने को उनके दास या सन्तान मान कर भक्ति करना सबसे अधिक सुगम है। केवल इस भाव को पकड़ कर निश्चिन्त रहने से नहीं चलेगा। अपने देवता को दिन-रात स्मरण करना आवश्यक है। उनको स्मरण करने का सबसे सहज उपाय है उनका नामजप करना।

जैसे तड़ित्-वार्तावह में धातव सूत्र के द्वारा एक स्थान के तड़ित्-यन्त्र के साथ अन्य स्थान के तड़ित्-यन्त्र का संयोग

साधित होता है, उसी प्रकार वाक्-यन्त्र की सहायता से, अथवा अन्तर में निःशब्द से उच्चरित भगवान् के नामों की परम्परा की सहायता से, एक ऐसा सूत्र ग्रथित होता है, जो भगवान् के साथ जीवात्मा का संयोग कर देता है। नाम-जप वेतार के तार का काम करता है।

जप की संख्या निर्धारित करने के निमित्त तुलसी, रुद्राक्ष या स्फटिक की माला का उपयोग किया जाता है। जिन्होंने नाम-जप का व्रत ग्रहण किया है, वे प्रति दिन के लिये एक नाम की संख्या निर्दिष्ट कर रखते हैं। माला के द्वारा जाना जाता है कि अनुष्ठेय दैनिक व्रत प्रतिपालित हुआ है या नहीं। चैतन्य महाप्रभु के समसामयिक भक्त-शिरोमणि यवन हरिदास नित्य विना व्यतिक्रम के एक लक्ष हरिनाम-जप करते थे।

जप का नियम यह है कि हम जिन देवता का नाम ले रहे हैं, नाम-ग्रहण के साथ-साथ हृदय में उनका चिन्तन करते जाना चाहिये, और अभ्यास करना चाहिये कि दूसरा कोई भी चिन्तन मन में न आने पावे। हाथ में माला रहने से वह हमें अन्य-मनस्कता से बचाती जाती है।

मनुष्य का चरम लक्ष्य

कल्याण का शिवांक नामक वृहत् ग्रन्थ मेरे पास पहुँचा। ६६६ पृष्ठ-व्यापी दुरूह ग्रन्थ को मेरे समान अल्प-विद्य व्यक्ति भली भाँति समझ कर कितने दिनों में बाँच जा सकता है? नावेल तो है नहीं कि पृष्ठों पर पृष्ठों का अतिक्रम हो सकता हो। कुछ लेख ऐसे हैं जिनका एक-एक पृष्ठ जीर्ण करने में एक-एक, दो-दो, तीन-तीन दिन लग जाते हैं। गृही को तो सांसारिक काम लगा ही रहता है; किसी काम में फँस जाने से यदि पढ़ना दो-एक दिन बन्द हो गया तो युक्तियों का क्रम ठीक-ठीक स्मरण रखना कठिन हो जाता है, दुबारा पढ़ने की आवश्यकता होती है। प्रायः सभी लेख बड़े ही विद्वत्तापूर्ण हैं। उनकी समालोचना करनी मेरे लिये धृष्टता होगी, क्योंकि उनकी त्रुटियाँ, यदि हों भी, मुझसे पकड़ी नहीं जा सकतीं। अतएव ग्रन्थ के प्रथमांश के कुछ लेख पढ़कर मेरी धारणाशक्ति के अनुसार मुझे जो क्षीण आलोक प्राप्त हुआ है, मैं उसी का एक क्षीणतर प्रतिबिम्ब उपस्थित करता हूँ। सम्भव है कि मेरी स्थूल बुद्धि लेखों का ठीक-ठीक आशय ग्रहण नहीं कर सकी हो। एक-आध स्थान पर, जहाँ मेरा प्रवेश नहीं हुआ, मैंने शिष्यवत् एक-आध प्रश्न किया है। कहीं अपनी ओर से दो बातें कहकर मैंने अल्प-मतित्व का परिचय दिया है। इस ग्रन्थरत्न को अभी अन्त तक पढ़ जाना इस वृद्ध के लिये असम्भव है। मैं इसे धीरे धीरे पढ़ूँगा।

कई लेखों में शैव और वैष्णवों के विरोध का उल्लेख किया गया है। सभी लेखकों ने इसका उत्तम समाधान भी किया है। अज्ञान ही विरोध का मूल है। परमात्मा अखण्ड, अपरिच्छिन्न, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, नित्य, सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं।

उपासकों ने उनकी जितनी मूर्तियों की कल्पना की है, वे सब उनके सगुण भाव की हैं। वे स्वयं एक होते हुए भी भक्तों की चित्तवृत्ति के अनुसार अनेक रूपों में प्रतिभात होते हैं। भेद केवल नाम-रूप का है। नाम-रूप को छोड़ देने से जो तत्त्व मिलता है, वही यथार्थ तत्त्व है—वह परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं।

इस संसार में दो ही तत्त्व हैं—चेतन तथा अचेतन। चेतन को 'सत्' कहते हैं और अचेतन को 'असत्'। सत् सदा एकरूप रहता है, और 'असत्' का परिवर्तन होता है—अथवा यों कहिये कि 'सत्' अपरिणामी है और 'असत्' परिणामी। आत्मा परिणामी नहीं है, अतएव सत् है। सृष्टि के पहले सत्-मात्र था, असत् नहीं था। इसीको परमात्मा, ब्रह्म या शिव कहते हैं। यहाँ शिव त्रिमूर्ति के अन्तर्गत देवता-विशेष शिव नहीं हैं, जो संहारकर्तामात्र हैं। त्रिमूर्ति के अन्य दो देवता—ब्रह्मा तथा विष्णु—सृष्टिकर्ता तथा पालन-कर्ता हैं। ये तीनों ब्रह्म के अंशमात्र हैं—मूल है ब्रह्म, जो जगत्-कारण है। अनेक स्थलों में ब्रह्म-वाचक शिव को पौराणिक देवता शिव के साथ एक करने के कारण लोगों के मन में एक भ्रमात्मक धारणा हो गयी है। क्या यह ठीक है?

परिदृश्यमान जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई? सृष्टि के पहले एकमात्र परमात्मा विद्यमान थे। कार्य की उत्पत्ति के पूर्व जो बिना व्यतिक्रम के रहता है, वही उस कार्य का कारण है। इस लिये वेदान्त में ब्रह्म ही जगत् के कारण बताये गये हैं। किन्तु ब्रह्म तो निर्गुण और निष्क्रिय हैं। तब उन में जगज्जननादि-कारणत्व कैसे रह सकता है? यहीं विभिन्न मतों का आरम्भ होता है।

जीव और ब्रह्म में कोई यथार्थ भेद नहीं है। जो भेद प्रतीयमान होता है, वह माया के कारण। माया न सत् है, न असत्—वह एक अनिर्वचनीय पदार्थ है। परमात्मा की इच्छा से उसकी उत्पत्ति होती है। परमात्मा स्वप्रकाश हैं, किन्तु अपनी इच्छा से अपने आपको आवरण-युक्त करते हैं। इस आवरण को माया या अविद्या या अज्ञान कहते हैं। किन्तु जिस समय वे आवरण-युक्त होते हैं, उस समय वे आवरण-मुक्त भी रह सकते हैं; यही है उनकी विशेषता। आवरण (माया) से युक्त आत्मा है जीव, और माया-मुक्त आत्मा है ब्रह्म। यह है शङ्कराचार्य का ब्रह्माद्वयवाद।

किन्तु निष्क्रिय ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव निर्विशेष अवस्था से ब्रह्म को सविशेष अवस्था का ग्रहण करना पड़ता है। वह अपनी इच्छा से एक ही समय सविशेष तथा निर्विशेष दोनों हो सकते हैं। सविशेष अवस्था में वह जगन्नियन्ता ईश्वर हैं।

ईश्वर के साथ जगत् का क्या सम्बन्ध है? उपादान-कारण के साथ कार्य के छः प्रकार के सम्बन्ध माने जाते हैं—(१) वस्त्र में तन्तु हैं; (२) तन्तुओं के आधार पर वस्त्र है; (३) तन्तु ही पट-रूपता को प्राप्त हो गये हैं; (४) पट एक अतिरिक्त वस्तु (अवयवी) है जो तन्तुओं से उत्पन्न हुआ है, तन्तुओं की सत्ता स्वतन्त्र है; (५) तन्तु पट से पूर्व भी थे, आगे भी रहेंगे और जहाँ पट उत्पन्न नहीं हुआ वहाँ भी हैं; तन्तुओं का पट से स्वतन्त्र रहना सम्भव है, किन्तु पट तन्तुओं से स्वतन्त्र अपनी सत्ता नहीं रख सकता; (६) हम कह नहीं सकते कि तन्तु और पट भिन्न-भिन्न हैं या एक। वैज्ञानिक रूप से ईश्वर-निरूपण में इन छहों प्रकार के सम्बन्ध पाये जाते हैं—(१) जगत्

में ईश्वर हैं, (२) ईश्वर में जगत् है, (३) जगत् ईश्वर ही है, (४) जगत् और ईश्वर भिन्न-भिन्न हैं, ईश्वर जगत् से परे हैं, (५) ईश्वर जगत् से भिन्न हैं, किन्तु जगत् ईश्वर से भिन्न नहीं, (६) जगत् अनिर्वचनीय है, ईश्वर से भिन्न या अभिन्न कुछ भी नहीं कहा जा सकता। ईश्वर ने अपनी इच्छा से स्वयं ही जगत्-रूप धारण किया है—वे जगत् के उपादान-कारण भी हैं और निमित्त-कारण भी हैं। ईश्वर चेतन होने के कारण जगत् को अपनी इच्छा से रचकर शासक रूप से उसके प्रत्येक अवयव में प्रविष्ट हो रहे हैं। ईश्वर से परे एक स्वतन्त्र निर्विशेष तत्त्व है, जो मन तथा बुद्धि की पहुँच के बाहर है। निर्विकार होने के कारण वे प्रत्यक्ष रूप में जगत् के कारण नहीं हो सकते। निर्विशेष परमात्मा की उपासना नहीं हो सकती। जगत् के कारण अक्षर-पुरुष ईश्वर ही उपासना के योग्य हैं। यह है ईश्वर-वाद। ब्रह्मवाद में आत्मा का कर्तृत्व नहीं है, किन्तु ईश्वर-वाद में कर्तृत्व है। ईश्वर परमात्मा का स्वेच्छापरिगृहीत रूप हैं।

ईश्वर जब शिव के नाम से अभिहित होते हैं, तब ईश्वर-वाद ही शैव-धर्म कहलाता है। शिव में जगत् उत्पन्न करने की शक्ति है, इसलिये वे शक्ति-विशिष्ट हैं, यह मानना होगा।

अब द्वैतवाद और अद्वैतवाद का प्रश्न उठता है। जीव और ब्रह्म भिन्न हैं, किंवा एक ही हैं? शङ्कर के ब्रह्म-सूत्र-भाष्य में दोनों का अभेद बताया गया है। यह है ब्रह्माद्वयवाद। 'ईश्वर जगत् को बनाकर उसी में अनुप्रविष्ट होते हैं' यह एक श्रुतिवाक्य है। वे (ईश्वर) पदार्थों (जगत्) के उपादान-कारण भी हैं और प्राणस्वरूप भी हैं। जगत् में जड़ चेतन दोनों नामों से कहे जानेवाले सभी का उनमें अन्तर्भाव है। जीव भी

इसी श्रेणी के अन्तर्गत है। कहा गया है कि ईश्वर के परे एक निर्विशेष तत्त्व है, जो सब की आत्मा होने के कारण परमात्मा कहा जाता है। वह निर्विकार होने के कारण जगत् का कारण नहीं कहा जा सकता वह अपनी इच्छा से शक्तिविशिष्ट होता है, उसका यह शक्तिविशिष्ट स्वरूप ही ईश्वर है। अतएव ईश्वर का एक अंश शक्ति है।, शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न हैं। शिव और शक्ति दोनों ओतप्रोत रूप में मिले हुए हैं। दोनों एक दूसरे के आधार पर हैं। शिव शक्तिमय और शक्ति शिवमय हैं। शिव ज्ञान-स्वरूप, और शक्ति क्रिया-स्वरूप कही जाती हैं। यही है शिवाद्वय-वाद या शक्त्यद्वय-वाद।

चेतन-तथा अचेतन-विभाग-विशिष्ट ब्रह्म के अभेद या एकत्वनिरूपक सिद्धान्त का नाम है विशिष्टाद्वैत-वाद। बद्ध-दशा में ब्रह्म के साथ जीव के भेद और मुक्त-दशा में उनके अभेद का जो मत है, उसका नाम है भेदाभेद-वाद। निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्म एक प्रकार से शून्यता के समान ही हैं। शून्य-तत्त्व सत्-असत् प्रभृति कोटिचतुष्टय से विनिर्मुक्त है। इसलिये शून्य-वाद एक प्रकार का अद्वैतवाद ही ठहरता है। वैयाकरणों के मत में अखण्ड चिन्मय शब्द-तत्त्व ही जगत् का मूल-कारण है। इसलिये उनके इस मत को शब्दाद्वयवाद कहते हैं।

बौद्धों ने विश्व के स्रष्टा या नियन्ता की आवश्यकता का अनुभव न कर विश्व में जो 'ऋत' (अर्थात् भौतिक तथा नैतिक नियम और श्रृङ्खला) दृष्ट होता है, उसी पर अधिक आस्था दिखायी है। इस संसार में किसी वस्तु की नित्यता नहीं है—सर्वत्र निरन्तर परिवर्तन सङ्घटित हो रहा है। किन्तु ये परिवर्तन अनियन्त्रित या यदृच्छ रूप से निष्पन्न नहीं होते—

प्रत्येक परिवर्तन अपरिहार्य क्रम-युक्त तथा कार्य-कारण-सम्बन्ध से आबद्ध है।

आगम के मत में 'अद्वैत' शब्द का अर्थ है दोनों का नित्य सामरस्य। शङ्कर के मत में ब्रह्म सत्य है और माया अनिर्वचनीय। किन्तु माया को स्वीकार कर उसको ब्रह्ममयी, नित्या और सत्य-स्वरूपा मानने से ब्रह्म और माया की एकरसता हो जाती है। माया को साक्षात् ब्रह्म-शक्ति और उसको विकास-रूप में अनुभव करने से जीवन की सार्थकता सम्भव हो सकती है। शक्ति सत्य है, सुतरां जीव तथा जगत् भी सत्य है; इसलिये सभी ब्रह्ममय है। यह वैचित्र्य एक का ही विलास है—भेद है अभेद का ही आत्म-प्रकाश। आगम-शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि पुरुष से प्रकृति, किंवा प्रकृति से पुरुष एकान्ततः पृथक् नहीं हैं। यह जगत् है आत्मा तथा शक्ति का विलास। उनकी योगावस्था कभी भग्न नहीं होती, क्योंकि दोनों एक ही के दो प्रकार हैं।

आनन्द है परमात्मा का एक स्वरूप। कृष्ण-भक्त वैष्णव लोग कहते हैं कि जिसका स्वरूप ही आनन्द है, उसके द्वारा आनन्द का अनुभव कैसे सम्भव है? आनन्द के लिये उनको किसी पृथक् सत्ता की आवश्यकता होती है। अतएव आनन्द-स्वरूप परमात्मा ने इच्छा की—'एकोऽहं बहु स्याम्'—मैं अकेला हूँ, अनेक हो जाऊँ। यही कारण है उनके सगुण-भाव धारण करने का। आनन्दानुभव के लिये ही परमात्मा और जीवात्मा का भेद-भाव रक्खा गया है। 'परमात्मा' पुरुष हैं और जीवात्मा प्रकृति। प्रकृति ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही विद्यमान रहती है। जो वस्तु भीतर थी उसका बहिर्विकासमात्र हुआ, क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती। कृष्ण-लीला में श्रीकृष्ण

हैं पुरुष और गोपियाँ प्रकृति। गोपियाँ हैं प्रकृति का व्यष्टि-भाव और राधा समष्टि-भाव। सृष्टि की आदि से ही प्रकृति और पुरुष की लीला चल रही है। आनन्द-स्वरूप श्रीकृष्ण की इच्छा से जिस शक्ति का विकास होता है उसका नाम है ह्लादिनी या राधा। पुरुष से ही उद्भव है प्रकृति का, अतएव राधा-कृष्ण अभिन्न हैं। शिव-शक्ति भी अभिन्न हैं। अतएव कृष्ण-लीला है शिव-शक्ति के विलास का नामान्तर।

एक निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही हैं। उन्हीं के किसी अंश में प्रकृति है। उस प्रकृति को लोग माया, शक्ति आदि नाम से पुकारते हैं। यह माया बड़ी विचित्र है। उसे कोई अनादि-अनन्त कहते हैं, तो कोई अनादि-सान्त मानते हैं। कोई उस ब्रह्म की शक्ति को ब्रह्म से अभिन्न मानते हैं तो कोई भिन्न बतलाते हैं; कोई सत् कहते हैं, तो कोई असत् प्रतिपादित करते हैं। वस्तुतः माया के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जाता है, माया उससे विलक्षण है, क्योंकि उसे न असत् ही कहा जा सकता है, न सत् ही। असत् तो इसलिये नहीं कह सकते कि उसी का विकृत रूप यह संसार (चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हो) प्रत्यक्ष प्रतीत होता है और सत् इसलिये नहीं कह सकते कि उसके परिवर्तनशील होने के कारण उसकी नित्य स्थिति नहीं देखी जाती। वेदों में परमात्मा के दो स्वरूप माने गये हैं—प्रकृतिरहित ब्रह्म को निर्गुण ब्रह्म कहा है और प्रकृतिसहित ब्रह्म के अंश को सगुण। सगुण ब्रह्म के भी दो भेद माने गये हैं—एक निराकार, दूसरा साकार। उस निराकार सगुण ब्रह्म को ही शैवगण महेश्वर, परमेश्वर, महादेव, शिव इत्यादि नामों से पुकारते हैं। वैष्णवगण उसे

महाविष्णु, वासुदेव, कृष्ण, राम इत्यादि नामों से अभिहित करते हैं। भेद है, नाम-रूप का तत्वतः कोई भेद नहीं।

कहा गया है कि निराकार सगुण ब्रह्म को शैवगण महेश्वर या शिव कहते हैं। शिव है शक्ति-विशिष्ट, और शिव और शक्ति हैं अभिन्न। शक्ति के साथ शिव सदा मिलित रहते हैं। शक्ति ही अन्तर्मुख होनेपर शिव हैं और शिव ही वहिर्मुख होने पर शक्ति हैं। शिव-तत्त्व में शक्ति-भाव गौण और शिव-भाव प्रधान है—शक्ति-तत्त्व में शिव-भाव गौण और शक्ति-भाव प्रधान है। परन्तु जहाँ शिव और शक्ति एकरस हैं, वहाँ न शिव का प्राधान्य है. न शक्ति का। वह साम्यावस्था है। यही नित्यावस्था है। यही तत्त्वातीत है। शैवों के ये परम शिव हैं, शाक्तों की पराशक्ति और वैष्णवों के श्रीभगवान्।

जीव तथा जगत् को ब्रह्म से भिन्न समझना ही द्वैतवाद है, और उनको अभिन्न समझना ही अद्वैतवाद है। उपासना के तीन मार्ग हैं—कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग। भक्ति द्वैतमूलक है और ज्ञान अद्वैतमूलक। व्यावहारिक कर्म-मार्ग में द्वैत-भाव है, किन्तु योगमूलक कर्म-मार्ग में ज्ञान का कुछ स्थान हो तो हो, किन्तु भक्ति का स्थान नहीं। ज्ञान-मार्गावलम्बी तथा भक्ति-मार्गावलम्बी दोनों का उद्देश्य है चरमावस्था में परमात्मा के साथ एकत्व। भक्ति-मार्ग की स्थूल साधना द्वैतमूलक है, अर्थात् उसमें सेव्य-सेवक-भाव विद्यमान है। किन्तु आगे एक अद्वैत-भक्तिमूलक अर्थात् ज्ञान-भक्ति-मिश्रित चेतना का आविर्भाव होना सम्भव है। उस अवस्था में जीव और ब्रह्म का भेद नहीं रहता। जीवात्मा तथा परमात्मा का एकीभाव हो जाता है। शैवगण चिदंश को शिव-भाव और आनन्दांशको शक्तिभाव

कहते हैं। चरमावस्था में शिव-भाव तथा शक्ति-भाव परस्पर मिले रहते हैं।

काश्मीरीय शैव-दर्शन में तथा गौडीय वैष्णव-दर्शन में कहा गया है कि मोक्ष (अर्थात् जीवात्मा के परमात्म-बोध) के पश्चात् भी जीवात्मा का दास्यात्मक भक्ति-भाव रह सकता है। यद्यपि ज्ञान के द्वारा 'तुम और मैं' का वास्तविक भेद मिट जाता है तथापि पराभक्ति के प्रभाव से उस अद्वैत-समुद्र में भी (कल्पित) द्वैत भाव की लहरें उठती हैं। काश्मीरीय शैवाचार्यगण इस अवस्था की भक्ति को अद्वैत-भक्ति कहते हैं। किन्तु गौडीय वैष्णव-दर्शन में यह द्वैत ही कहा गया है। दोनों ही स्वीकार करते हैं कि ज्ञान के अनन्तर भी भक्ति रह सकती है। अन्त में ज्ञान और भक्ति में भिन्नता नहीं रहती, दोनों एक प्रकार हो जाते हैं। यही पूर्णाहन्ता है।

क्या योग-मार्ग के द्वारा भी पूर्णाहन्ता प्राप्त नहीं हो सकती? विशेष प्रणाली-बद्ध साधना से समाधि की अवस्था प्राप्त हो सकती है। ध्यान है प्रत्यय या अनुभूति की एकाग्रता या एक-निष्ठता। ध्यान जब प्रगाढ़ हो जाता है तब वह स्वरूप-शून्य होकर, अर्थात् अपने प्रत्यय-स्वरूपत्व को विस्मृत होकर, उस प्रत्यय को विषयीभूत ध्येय वस्तु में लीन हो ध्येय वस्तु का आकार धारण करता है। मन के अमनीभावात्मक उस ध्यान को समाधि कहते हैं। धनुर्धारी जैसे पहले स्थूल लक्ष्य को विद्ध करने में समर्थ होता है और पीछे सूक्ष्म वस्तु को, योगी भी उसी तरह पहले स्थूल पाञ्चभौतिक ध्येय वस्तु का साक्षात्कार-साधन करते-करते पीछे सूक्ष्म का साक्षात्कार-साधन करता है। अतएव समाधि सम्प्रज्ञात या सालम्ब और असम्प्रज्ञात या निरालम्ब होती है। सम्प्रज्ञात-समाधि के चार स्तर हैं। सबसे पीछे के स्तर में 'मैं हूँ' इस प्रत्यय का अवलम्बन किया जाता है। जब इस प्रत्यय का

भी निरोध हो जाता है, तब असम्प्रज्ञात या निरालम्ब समाधि की अवस्था आ पहुँचती है। इस अवस्था में चित्तवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध होता है—विषय-रहित होने के कारण ऐसा बोध होता है कि चित्त है ही नहीं। सर्व-निरोधजनित इस असम्प्रज्ञात समाधि से पुरुष स्वरूपनिष्ठ तथा शुद्ध हो जाता है। पतञ्जली के मत में ईश्वरवादी तथा निरीश्वरवादी दोनों समाधि प्राप्त करने के अधिकारी हैं। मुण्डक उपनिषद् की 'अक्षर ब्रह्म में तन्मयत्व-प्राप्ति' और बुद्धदेव की 'समाधि'-लाभ एक ही हैं—जीवात्मा का 'केवल भाव' में अथवा स्वरूप में अवस्थान। ध्येय विषय के साथ जीव की तन्मयता-प्राप्ति ही बौद्धमत में समाधि है। जीव समाधि के सोपान पर आरोहण करने के पश्चात् केवल-भाव प्राप्त करता है। तब उसका न तो भाव-ज्ञान रहता है, न अभाव-ज्ञान। तब चित्त सम्पूर्ण दुःख-मुक्त होकर शान्ति-सलिल में निमग्न रहता है। पतञ्जलि के मत में यही है असम्प्रज्ञात-समाधि। क्या यह 'केवल भाव' 'पूर्णाहन्ता' नहीं है ?

योग—प्रत्यक्ष-सापेक्ष और निरपेक्ष

(१)

योग, योगी, योगबल—ये शब्द हिन्दुओं के भीतर सर्वदा व्यवहृत होते देखे जाते हैं। अध्यात्म-क्षेत्र में योग-साधना को ही श्रेष्ठ स्थान दिया जाता है। उपासना का चरम लक्ष्य है ईश्वर-प्राप्ति। हिन्दुओं का विश्वास है कि योग के द्वारा ही यह उद्देश्य सिद्ध हो सकता है। योग ही है उपासना का चरम उत्कर्ष। किसी साधु को देखने से ही हिन्दूलोग ख़्याल करते हैं कि यह कदाचित् परम ज्ञानी हैं और इन्होंने कदाचित् योग के द्वारा भगवान का दर्शन-लाभ किया है। यदि यह साधु अलौकिक शक्ति-सम्पन्न हों, और वर्तमान, भूत, भविष्यत के ज्ञाता हों, तो इनकी कृपा से हम अपने भविष्यत जान सकेंगे और दुरारोग्य व्याधि से मुक्त हो सकेंगे। इस विश्वास के वशवर्ती होकर आस पास के हिन्दूगण उनके निकट उपस्थित हो भीड़ लगा देते हैं, और नाना उपाय से—अपनी दीनता दिखाके वा उपहारादि देके—उनको प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं। ऐसे साधुगण तीन श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं—(१) जिन्होंने यथार्थ ही भगवान के दर्शन पाये हैं; (२) जो अपनी सिद्धि की भ्रान्त धारणा पोषण करते हैं; और (३) जिनका पेशा है प्रतारणा के द्वारा अर्थ-सञ्चय करना। शेषोक्त साधुओं की संख्या ही सबसे अधिक है। अनेक अपराधी राज-दण्ड के भय से साधु का भेष बनाकर आत्म-गोपन करते हैं।

योग-साधना के कुछ अंग भ्रमात्मक तथा युक्ति-विरुद्ध मालूम होने पर भी वह सम्पूर्णतया अग्राह्य करने योग्य वस्तु

नहीं। उसके असार भाग का वर्जन करते हुए उसके भीतर जो सार वस्तु है, उसीका ग्रहण करना उचित है। असार को सार से पृथक् करने की इच्छा वा अक्षमता है पक्षपात वा स्थूल बुद्धि का परिचायक। जो इस महान् हिन्दू-जाति के प्रति सुविचार करने को इच्छुक हैं, उनको उचित है कि योग के बहिरावरण अलग कर वे उसके अभ्यन्तर के मूल तत्त्व का अनुसन्धान करें, और यह शोध करते हुए उसके क्रमविकाश की धारा की आलोचना ऐतिहासिक प्रणाली से करें।

योग से क्या समझा जाता है?—संयोग वा मिलन। किसके साथ किसका मिलन? परमात्मा के साथ जीवात्मा का मिलन। अनादि काल से सृष्टि के प्राक्-काल तक ब्रह्म वा परमात्मा के अतिरिक्त कुछ न था। परमात्मा की बहु होने की इच्छा हुई। उनके भीतर कुछ पदार्थ, जो अव्यक्त थे, उनकी इच्छा से व्यक्त हुए, और उन पदार्थों से इस विश्व की सृष्टि हुई। वे पदार्थ थे चैतन्य, शक्ति, और अति सूक्ष्म रूप में अवस्थित जड़-वस्तु। ये तीन पदार्थ हैं विश्व के उपादान, और इन्हीं के मिश्रण से हुई है जगत की उत्पत्ति। जैसे जैसे सृष्टि का विकास होता गया, वैसे वैसे ये सूक्ष्म पदार्थ स्थूल भाव धारण करने लगे।

जड़ ही शक्ति तथा ज्ञान का आधार है। जड़ का आश्रय न पाने से शक्ति तथा चैतन्य की क्रिया नहीं होती। शक्ति एक ओर जड़ के द्वारा अभिभूत होती है, दूसरी ओर चैतन्य के द्वारा अनुप्राणित होती है। सृष्टि के विकास में जीव-शक्ति क्रमशः जड़ की अधीनता परित्याग कर अधिक परिमाण में चैतन्य का आश्रय लेना चाहती है। चैतन्य है ज्ञान का, और जड़ है अज्ञानता का, परिचायक। जिस अज्ञानता-अन्धकार

में जीव-शक्ति आच्छन्न हो रही है, उसे काट कर वह ज्ञान के आलोक में आना चाहती है। जीव क्रमशः समझने लगा है कि जड़ वा अज्ञानता ही है उसके सब दुःखों का मूल। अज्ञानता ही उसे भगवान के अनभिप्रेत कार्यों में प्रवृत्त कराती है, और इसी कारण उसके दुःख की उत्पत्ति होती है। दुःख से छुटकारा पाने के निमित्त आग्रहान्वित होकर वह भगवान की शरण लेता है। बहुतेरे लोग स्थूल उपाय से उनको तुष्ट कर उनके दर्शन पाने की आशा करते हैं। किन्तु केवल भगवान के दर्शन से मुक्ति-लाभ नहीं हो सकता, अर्थात् जीवात्मा का स्थूल भाव विदूरित होते हुए परमात्मा के साथ उसका संयोग सम्भव नहीं है। भगवान के साथ मिल जाने के निमित्त उसे भगवान के समान निर्मल तथा पवित्र होना चाहिये, उसकी अज्ञानता दूर होनी चाहिये, इन्द्रियों का निरोध होना चाहिये, वैषयिक आसक्तियों की निवृत्ति होनी चाहिये। अपने में देव-भाव न लाने से देवता की आराधना नहीं हो सकती। अपने आपको इस अनाविल अवस्था में लाकर दत्तचित्त होकर परमात्मा का ध्यान करने को समर्थ होने से उनके साथ संयोग सम्भव है। अशरीरी वस्तु के साथ अशरीरी वस्तु के संयोग का नाम है योग। अपरिछिन्न आत्मा और परमात्मा दोनों हैं अशरीरी। अतएव उनका मिलन हो सकता है। इस मिलन को योग कहते हैं। एक के भीतर दो की अनुभूति, अथवा द्वित्व के भीतर एकत्व की उपलब्धि को योग कहते हैं। इस अवस्था में पहुँच सकने से मनुष्य सब पार्थिव बन्धनों से मुक्त हो सकता है, और उसके सब दुःखों का अवसान हो सकता है। जितनी उपासना तथा वन्दना, याग तथा यज्ञ, ध्यान तथा धारणा, तपश्चर्या तथा कृच्छ्र-साधन इस अवस्था पर पहुँचने के निमित्त हैं।

(२)

प्रथम अवस्था में जिज्ञासु होके मानव-जाति ने प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन करने की चेष्टा की थी। प्रकृति-पूजा से उसको आध्यात्मिकता का सूत्रपात हुआ था। प्रकृति में जो कुछ उसकी नज़र में आता था, वही उसके विस्मय का उद्रेक करता था। मनुष्य सोचता था कि विश्व क्या ही सुन्दर है, कितना महान् है? तमोहारिणी रक्तराग ऊषा का प्रकाश, जगज्जीवन दिनमणि की प्रखर प्रभा, रजत-कान्ति निशानाथ की स्निग्ध किरण, आवर्तनशील ग्रह-समूह का सञ्चरण, नक्षत्र-खचित असीम नभो-मण्डल की रमणीयता, दिगन्त-प्रसारी सागर का उत्ताल नर्तन, वारि-भाराक्रान्त जलद का गंभीर निनाद, दुर्निरीक्ष्य सौदामिनी का क्षणिक प्रकाश, आकाश के नीलायतन पर इन्द्रधनु की सप्त-वर्णोज्ज्वल छवि, गगन-चुम्बी पर्वत की भीतिप्रद विशालता, वनचारिणी निर्झरिणी का कल निनाद, कुसुम-दाम की नयनाभिराम सुषमा तथा प्राणोन्मादक परिमल, षड् ऋतु का पर्याय से आविर्भाव—इन सब प्राकृतिक वस्तुओं तथा घटनाओं को आदि काल के मनुष्य सजीव अनुभव करते थे, और उनके चमत्कार से अभिभूत होते थे। ये प्राकृतिक व्यापार केवल विस्मय-जनक ही न थे, वे रहस्यमय भी थे। विस्मय-विमुग्ध नर जिज्ञासा करता था कि इन व्यापारों के हेतु क्या हैं? ये सब चाञ्चल्य तथा सौन्दर्य की उत्पत्ति का कारण क्या है? प्राणियों तथा पौधों की उत्पत्ति का आकर कहां है? प्राणियों तथा पौधों में इतनी विभिन्नता क्यों पाई जाती है? कहाँ से ये अपने अंग-सौष्ठव तथा सौन्दर्य पाते हैं?

प्राचीन वैदिक युग के ऋषियों के भीतर सबसे पहले इस प्रकार के प्रश्नसमूह का उदय हुआ था। उन्होंने भी जिज्ञासा

की थी—इन सब घटनाओं का रहस्य क्या है ? विस्मय तथा भक्ति से आप्लुत होकर किन के पास उन्होंने अपने मस्तक नवाये थे ? किनको उन्होंने अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण की थी ? उस समय वे नहीं जानते थे किसको। उनकी वैज्ञानिक बुद्धि का पूर्ण विकास उस समय तक नहीं हुआ था—कार्य के साथ कारण के सम्बन्ध का ज्ञान उस समय तक उनके मानस-क्षेत्र में सम्पूर्णतया प्रतिभात नहीं हुआ था। तब तक भी वे ईश्वर-प्रेरित अनुभूतियों को निर्दिष्ट आकार देने को समर्थ नहीं हुए थे। अतएव उनकी कार्यावली उत्तेजना तथा आवेग के द्वारा प्रभावित होती थी। उन्होंने नैसर्गिक चमत्कारों की यौक्तिकता दिखाने की चेष्टा नहीं की थी। वे भक्त थे, तत्त्वज्ञ न थे। अतएव जो जो घटनाएँ उन्हें विस्मय, श्रद्धा तथा कृतज्ञता से पूर्ण करती थीं, वे उन्हीं को देवता मानकर उनकी आराधना करते थे। वे ऊर्ध्वदृष्टि होकर पर्जन्य, विद्युत् तथा अशनि का स्तव करते थे। वे सूर्य, वायु, अग्नि तथा नद-नदियों को अपने परम हितू मित्र समझ कर अपने अपने कृतज्ञ हृदय की अकपट श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते थे। ऊषा को अतिशय मनोमुग्धकर तथा आनन्ददायक पाकर उनके कवि-हृदय उसकी स्तुति करने में द्विधा अनुभव नहीं करते थे। ऋतुगण को समयोपयोगी जानकर उन्होंने उनके सम्बन्ध में स्तोत्र-रचना की थी।

संक्षेप में, प्राचीन वैदिक युग के ऋषिगण इस विश्व में नाना प्राकृतिक शोभाओं का दर्शन कर विमुग्ध होते थे, और उनके भीतर कुछ नैसर्गिक शक्तियों का अनुभव कर विस्मय से परिपूरित होते थे। एक एक शक्ति को एक एक देवता कल्पना कर, उनमें से प्रत्येक समग्र ब्रह्माण्ड का अथवा उसके एकांश का अधिष्ठाता हैं, वे ऐसी उपलब्धि करते थे। इन देवतों के निकट

वे अन्न, पुत्र, धन, सौभाग्य तथा अन्यान्य सम्पदाओं की याञ्चा, तथा विपद् से उद्धार वा शत्रु के पराभव के निमित्त प्रार्थना, करते थे। जब इन देवतों के सम्बन्ध में उनके मन में नूतन नूतन भावों का उदय होता था, तब उन भावों को वे सुन्दर तथा सुललित भाषा में ग्रथित करते थे।

इन देवतों में जो अग्नि के अधिदेवता थे, उन्हें देख के वे अधिक मुग्ध हुए थे। अग्नि सर्वत्र विद्यमान हैं—वह सूर्य में रहते हुए आलोक तथा उत्ताप वितरण करती हैं, अन्तरिक्ष में रहते हुए मेघ, वृष्टि तथा विद्युत् उत्पन्न करती हैं, और पृथ्वी पर रहते हुए जीवों की प्राण-रक्षा करती हैं। अतएव अग्नि की उपासना ही वैदिक ऋषियों के भीतर प्रधानतः प्रतिष्ठित हुई थी, और इस कारण हर गृहस्थ के घर में अग्नि सर्वदा प्रज्वलित रहती थी, और गृहस्थ प्रतिदिन प्रातःकाल तथा सायंकाल में उसमें हवन करता था। इस प्रकार से यज्ञ की उत्पत्ति हुई थी। पीछे यज्ञ को गौरवान्वित करने के निमित्त आर्यगण कवित्वपूर्ण ऋक्-मन्त्र, गानोपयोगी साम-मन्त्र, यज्ञोपयोगी यजुस्-मन्त्र क्रमशः ऋषिमुख से प्राप्त करने लगे।

इससे हमारे मन में यह धारणा हो सकती है कि प्राचीन आर्यगण, या तो बहु देवतों पर विश्वास करते थे, नहीं तो विश्व को ही भगवान मानते थे। दोनों का एक भी वे नहीं करते थे। वे न तो बहुदेव-वादी (Polytheist) थे, न विश्वदेव-वादी (Pantheist) थे। उन्होंने तब तक भी कोई दार्शनिक मत गठित नहीं किया था, न वे वैज्ञानिक धारा का अवलम्बन कर चिन्ता करने को अभ्यस्त हुए थे। उनकी चिन्ता-क्षेत्र में जटिलता का प्रवेश नहीं हुआ था। सहज ज्ञान का अनुसरण कर जड़ जगत् के प्रत्येक सुन्दर वा विस्मयकर व्यापार के पश्चात् कोई अज्ञात शक्ति है, इस विश्वास से वे उस शक्ति की

उपासना करते थे। विभिन्न प्राकृतिक शक्ति—सूर्य-शक्ति, वायु-शक्ति, जल-शक्ति, अग्नि-शक्ति, तड़ित्-शक्ति वा अन्यान्य प्राकृतिक शक्तियाँ—इनमें से जब जो शक्ति उनके विस्मय को उद्दीपित करती थी, तब ही वे उसकी स्तुति करते थे। वह शक्ति उस समय उनके चित्त को इस प्रकार अधिकार कर बैठती थी कि उनके चिन्ता-क्षेत्र से अपर सब वस्तुएँ अन्तर्हित हो जाती थीं और तद्गत-चित्त होके वे उसी की उपासना में प्रवृत्त हो जाते थे। उसी को वे सर्वश्रेष्ठ तथा सर्व-शक्तिमती सोचते थे। इस प्रकार से प्रत्येक देवता पर्याय से सर्वोच्च तथा सर्व-प्रधान स्रष्टा कल्पित होता था। वैदिक देवता-मण्डली के भीतर कौन बड़ा, कौन छोटा—इस प्रकार की श्रेष्ठता का कोई क्रम नहीं था, और प्राचीन वैदिक युग में यह भी स्थिरीकृत न हुआ था कि विश्व में एक ही मात्र ईश्वर वा बहु ईश्वर हैं। कभी देखा जाता है कि विश्व में अनेक देवता हैं, और प्रत्येक ही सर्वशक्तिमान तथा सर्व-श्रेष्ठ हैं। फिर देखा जाता है कि विश्व में एकमात्र ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई देवता नहीं, और वे ही बहुरूप में प्रदर्शित तथा वर्णित हुए हैं।

आधुनिक विज्ञान का विचार-फल भी ऐसा ही है। बड़े बड़े वैज्ञानिक मनीषियों ने स्थिर किया है कि प्रकृति की जितनी कार्यावली हमारे इन्द्रिय-गोचर होती हैं, वे कुछ प्राकृतिक शक्तियों की क्रिया के सिवा और कुछ न हैं। ये शक्तियाँ या तो किसी अज्ञात महान शक्ति की क्रियाओं से उत्पन्न होती हैं, नहीं तो एक नित्य-शक्ति के विभिन्न प्रकाश हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों की नाईं वैदिक ऋषियों ने भी अनुभव किया था कि भौतिक घटना-समूह के पश्चात् एक शाश्वत शक्ति विद्यमान है, और वही नाना आकार में प्रतीयमान होती है। खण्ड-शक्ति-समूह को एक अखण्ड शक्ति का नाना स्वरूप समझकर

समय समय पर पृथक् पृथक् रूप में वे उनकी उपासना करते थे। ऋषियों और वैज्ञानिकों में प्रभेद इतना ही है कि ऋषियों की उक्तियों में काव्य तथा भक्ति का आस्वाद मिलता है, और वैज्ञानिकों की उक्तियों में नीरसता तथा ईश्वर में अविश्वास स्पष्ट रूप में प्रकट होते हैं।

ऋषिगण प्रकृति के कवि थे। उनके स्तोत्रों में कल्पना की अजस्र धारा प्रवाहित होती थी, और भाव-राशि प्रबल वेग से निःसृत होती थी। अज्ञात मूल-शक्ति के अनुसन्धान में वे आधुनिक वैज्ञानिकों को भी अतिक्रम कर गये थे। वैज्ञानिकों की नाईं वे अचेतन जड़-शक्ति का परिचय पाकर ही मध्य पथ में निवृत्त नहीं हुए थे, किन्तु और भी अधिक दूर अग्रसर होकर वे एक व्यक्तित्व-विशिष्ट सगुण पुरुष के मन्दिर की ओर यात्रा कर वहाँ पहुँचने को समर्थ हुए थे। उन्होंने अग्नि की वास्तव मूर्ति की आराधना नहीं की थी, किन्तु उसकी दाहिका-शक्ति के अन्तर्निविष्ट व्यक्तित्व-विशिष्ट सचेतन सत्ता के चरणों पर अपनी श्रद्धा निवेदन की थी। इसी प्रकार उन्होंने जल-शक्ति-मध्यस्थ व्यक्तित्व-विशिष्ट सचेतन देवता को अर्घ्य दिया था। मनोमोहिनी ऊषा के भीतर भी उन्होंने एक सचेतन अधिष्ठात्री की उपलब्धि की थी। पाठकों में कोई कोई कहेंगे कि यह क्या ही जघन्य जड़ोपासना है, क्या ही घृणित बहु-देव-वाद है! किन्तु सात्विक हिन्दूमात्र ही कहेंगे, कि यह आक्षेप ठीक नहीं। युक्तिवादी के निकट यह असंगत मालूम हो सकता है, किन्तु आध्यात्मिक जगत् में यह भक्ति का निदर्शन है और योग की परिणति है। एक मिट्टी की मूर्ति वा एक प्रस्तर-खण्ड की पूजा जड़-पूजा के नाम से अभिहित हो सकती है; और जगत् के सब पदार्थों को जड़, तथा सब प्राकृतिक शक्तियों को अचेतन, समझना नास्तिकता के नाम से गृहीत हो सकता

है। किन्तु समस्त प्राकृतिक वस्तुओं वा घटनाओं में उनके हेतुभूत स्रष्टा का आविष्कार करने की प्रवृत्ति मनुष्य की स्वभाव-सिद्ध है, और जो लोग प्रकृति में भगवान की उपलब्धि करते हैं, उनको परम आस्तिक के सिवा और क्या कहना चाहिये ? इसे योगानुभूति न कहें तो क्या कहेंगे ? आयास-साध्य तर्क तथा युक्ति यहाँ पंगु हैं। मनुष्य की स्वभावज अनुभूति ही कह देती है कि विश्व एक सगुण पुरुष के द्वारा सृष्ट हुआ है, और इसके जो मूल कारण हैं, वे व्यक्तित्व-विशिष्ट सगुण सत्ता हैं। उनके अतीत यदि और कोई सत्ता हो, उनकी आलोचना में यहाँ प्रवृत्त होना अनावश्यक है।

ऋषियों ने प्राकृतिक शक्ति-समूह के अन्तराल में किसी महती शक्ति का अनुभव किया था, जो कार्यक्षम, सचेतन और अभीप्सित-वरदान-समर्थ है। इस व्यक्तित्व की उपलब्धि के निमित्त उन्हें युक्ति वा तर्क की सहायता लेनी नहीं पड़ी थी। मेघ का गर्जन और उससे अशनिपात तथा वर्षण लक्ष्य कर विस्मय-चकित हो किसी व्यक्तित्व-सम्पन्न अज्ञात शक्ति को वे मस्तक नवाते थे, और उनके निकट अपनी प्रार्थना जनाते थे। उनको पिता तथा हितू अनुभव कर वे उनको प्यार करते थे—उनपर निर्भर कर वे उनकी आराधना करते थे। ऊपर, नीचे, दिक्-दिगन्त में, जल में, स्थल में, व्योम में, मरुत् में, विश्व के सर्वत्र वे एक शक्तिमान तथा सर्वकर्मक्षम सत्ता का अनुभव करते थे - जो असीम ज्ञान तथा असीम दया का आधार है। वह सर्व-साक्षी सर्वत्र विद्यमान पिता, अति स्नेहमयी जननी तथा पाप-सन्तापहारी रक्षक हैं। जहाँ दूसरे लोग अन्ध अज्ञान शक्ति देखते थे, वहाँ ऋषिगण चैतन्य-स्वरूप विश्व-नियन्ता का अनुभव करते थे। अन्य लोग स्थूल यवनिका के अन्तराल में कुछ भी नहीं देख पाते थे, किन्तु ऋषियों की दृष्टि यवनिका

को फोड़ कर अन्तर के बन्धु का दर्शन-लाभ करती थी। उनके अशरीरी नेत्र स्थूल जड़ के द्वारा रुद्ध न हो उस पार के एक ज्योतिर्मय सचेतन सत्ता को देख पाते थे। इस प्रकार की ईश्वरानुभूति योगी के सिवा दूसरे किसकी हो सकती है ? सब कोई चन्द्र, सूर्य और नक्षत्रों को देखते हैं, जल तथा अग्नि सर्वदा उनके दृष्टि-पथ में उपस्थित होते हैं, किन्तु उनमें से कितने ऐसे हैं जो सहज ज्ञान से, भक्ति प्रणोदित होके उन सब वस्तुओं के भीतर भगवान को देख पाते हैं ? किन्तु विज्ञान तथा दर्शन के संस्पर्श में न आकर भी ऋषियों ने स्पष्ट रूप में उन्हें देख पाया था। अतएव क्या हम यह कहने को विवश नहीं होते कि वे अलौकिक दृष्टि-सम्पन्न थे ? इस दृष्टि को योग के सिवा और क्या कहा जा सकता है ? ऋषियों की योगानुभूति उस समय तक परवर्ती दार्शनिक योग का क्रम अनुसरण कर पूर्णता-प्राप्त न होने पर भी, उनका योग स्वाभाविक, सरल तथा कवित्वमय था, विज्ञान-सम्मत न होने पर भी रहस्यमय था, युक्ति-प्रसूत न होने पर भी भक्ति-राग-रञ्जित था।

तथापि यह स्वाभाविक तथा अकृत्रिम था। परीक्षा तथा विश्लेषण से समझा जाता है कि इसमें जो मानसिक क्रियाएँ लक्षित होती हैं, वे भ्रम-प्रमाद-वर्जित हैं, और मनस्तत्त्व के विधिओं के अनुसार प्रतिपाद्य हैं। ये विकृत-मस्तिष्क-प्रसूत आकस्मिक वा असाधारण क्रियाएँ नहीं, अथवा आवेग-पूर्ण मन के उच्छ्वास भी नहीं। ये स्वाभाविक अनुभूति की क्रियाएँ हैं—अनुरूप मानसिक अवस्था में ये संघटित हो सकती हैं, और बहुतेरे आध्यात्मिक-भावापन्न व्यक्तियों के द्वारा ये समर्थित हुई हैं। सब देशों में, सब कालों में आस्थावान लोगों ने भक्ति की उद्दीपना से प्रकृति में ईश्वर के अस्तित्व का स्पष्ट अनुभव किया है। एक प्रकार की मानसिक अवस्था में वे एक अभूत-

पूर्ण तथा अवर्णनीय विस्मय तथा आवेग से अभिभूत हुए हैं। कहाँ से इसका आगम होता है, क्यों यह आता है, वे यह नहीं कह सकते । यह रहस्यमय होने पर भी सत्य है। जो सब भाव साधारण-मानव-मन में अल्प मात्रा में भी कभी उदित नहीं होते, वे प्रतिभाशाली व्यक्तियों के अन्तर को बाढ़ की नाईं प्रबल वेग से प्लावित करते हैं।

विभिन्न देशों में और विभिन्न कालों में महात्माओं के भगवत्-साक्षात्कार का उल्लेख मिलता है। प्राचीन यहूदियों के भीतर मूसा ने यहोवा का दर्शन पाया था। ईसा ने कपोत-रूपी पवित्र-आत्मा को आकाश-मार्ग में मस्तक के ऊपर विचरण करते देखा था। हज़रत मुहम्मद का भी भगवान का साक्षात् होता था। आधुनिक काल में परमहंस रामकृष्ण-देव जगन्माता के दर्शन पाते थे। ये सब प्रामाण्य विवरण मिलने के बाद क्या हम वैदिक ऋषियों की योगानुभूति को अप्रामाण्य कह कर सम्पूर्णतया उड़ा दे सकते हैं? इसे रहस्यवाद कहते हुए अवज्ञा की चक्षु से न देख कर, यह दर्शन-शास्त्रानुमोदित वैज्ञानिक भित्ति पर प्रतिष्ठित हो सकती है या नहीं, देखना उचित है। जिन सब मलिनताओं के प्रवेश से यह विश्व-देव-वाद या बहुदेव-वाद के नाम से निन्दित होती है, उनका वर्जन करते हुए प्रमाण करना चाहिये कि यह त्रुटिहीन सर्व-जन-ग्राह्य एकेश्वर-वादानुमोदित अनुभूति है। तर्क के द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा न कर, करणीय-बोध से प्रात्यहिक जीवन में इसका नित्य अभ्यास आवश्यक है।

(३)

योग दो प्रकार का है—(१) प्रत्यक्ष-सापेक्ष तथा (२) निरपेक्ष। निरपेक्ष (Subjective) योग का विचार पीछे

किया जायगा। बाहरी प्रकृति के दर्शन से मानवात्मा का परमात्मा के साथ जो मिलन होता है, उसे प्रत्यक्ष-सापेक्ष (Objective) योग कहते हैं। इसका स्वरूप क्या है? इसका मूल-तत्त्व क्या है? मानव-जीवन में इसकी सार्थकता क्या है? किस प्रकार से यह पवित्रता तथा आनन्द का सञ्चार करता है?—ये सब तथ्य विश्वासी के निकट तभी स्पष्टता से प्रतिभात होंगे, जब वह सूक्ष्म वैज्ञानिक युक्तियों का अवलम्बन कर इनकी उपलब्धि की चेष्टा करेंगे। योग-दृष्टि के यथायथ विश्लेषण के द्वारा इस विषय के अनेक रहस्य उद्घाटित होंगे, अनेक भ्रान्त धारणाएँ विदूरित होंगी और सम्भवतः विश्वास प्रतिष्ठित होगा।

आइये हम सर्व-कु-संस्कार-वर्जित, तथा आधुनिक दर्शन-शास्त्र के मर्मज्ञ, एक वैज्ञानिक योगी की कल्पना करें। मान लिया जाय कि किसी प्रकार की अशान्ति-प्रद चिन्ता उनकी एकाग्रता को विनष्ट नहीं करती और जिन सब वस्तुओं के द्वारा वह परिवृत हैं, उनमें उनका चित्त निविष्ट है तथा वे उनका कौतूहल उद्दीप्त कर रही हैं। वह कभी एक सुन्दर गुलाब, कभी एक विशाल महीरुह, कभी एक शस्याच्छादित प्रान्तर, कभी एक कल-निनादिनी स्रोतस्विनी, कभी एक विराट् अद्रि, कभी एक मञ्जु-कूजित पक्षी, कभी एक तरङ्ग-संकुल जलधि, अथवा कभी ऊर्ध्वस्थ नीलाम्बर देख रहे हैं। इन सब शोभाओं के द्वारा उनका चित्त सम्पूर्णतया अधिकृत तथा विमोहित होने के कारण वह पूछ रहे हैं—इस रमणीयता का, इस सुव्यवस्था तथा रचना-पारिपाट्य का, इस चाञ्चल्य तथा विकास का मूल-प्रस्रवण कहाँ? इस विश्व को कौन धारण, पोषण तथा सक्रिय कर रहा है? सहसा उनका चित्त एक दिव्य ज्योति से आलोकित हुआ, और उनने चमकित होके हृदयंगम किया कि इन सबों के मूल

में एक अज्ञात शक्ति विराजमान है। इस अनुभूति पर पहुँचने के लिए उन्हें किसी युक्ति या तर्क का आश्रय नहीं लेना पड़ा। यह सहज में ही आप से आप उनके मानस-क्षेत्र में उदित हुई। वह समझ सके कि, अपने सहज ज्ञान और वैज्ञानिक सिद्धान्त में कोई प्रभेद नहीं है—दोनों एक हैं।

इस मूल-कारण के भीतर ही उसका कार्य—शक्ति, ज्ञान, प्रेम तथा सौन्दर्य—निहित है। हमारे कल्पित दार्शनिक द्रष्टा ने मनश्चक्षु के द्वारा एक व्यक्ति को देखा जो सत्य, शिव और सुन्दर हैं। द्रष्टा ने एक इच्छा-शक्ति-सम्पन्न, चित्-शक्तिविशिष्ट तथा करुणामय सत्ता के भीतर अपने आपको तथा विश्व को—"मैं" को तथा "मैं" को छोड़के अवशिष्ट जो कुछ रहता है उसको, अवस्थित तथा कर्म-नियत पाया। जब उनने इस सर्व-शक्तिमान, सर्वज्ञ तथा सर्व-मंगलमय व्यक्ति को हृदयंगम किया, तब उनका हृदय आवेग, कृतज्ञता, निर्भरता, भक्ति, अनुराग तथा हर्ष में निमज्जित हो उनकी दृष्टि को मधुमय कर दिया। यह अपूर्व परिस्थिति मुहूर्तमात्र में संघटित हुई। ज्ञानमूलक, भक्तिमूलक तथा कर्ममूलक दृष्टियाँ क्षणमात्र में संयुक्त हो एकीभूत हो गयीं।

ध्यान की एकाग्रता जिस परिमाण में वृद्धि-प्राप्त होती है, ईश्वरानुभूति उसी परिमाण में स्पष्टता प्राप्त कर अन्त में भावस्रोत में विलीन हो जाती है। तब विश्व का सिंहद्वार उन्मुक्त हो जाता है। पर्वत तथा नदी, वृक्ष तथा पुष्प, सूर्य तथा चन्द्र, वायु तथा वृष्टि, अग्नि तथा विद्युत्, पक्षी तथा पतंग, मनुष्य तथा पशु—सब ही अपना अपना अन्तर्निहित देव-मन्दिर उद्घाटित करते हैं। साधक तब सब मन्दिरों में एक ही अखंड जीवन्त शक्ति को अवस्थान करते हुए पाते हैं, और छोटा बड़ा प्रत्येक पदार्थ तथा जीव भगवान का वासस्थान है ऐसा अनुभव करते

हैं। मन्दिर-समूह के द्वार अब तक रुद्ध थे—सहसा ऐन्द्रजालिक क्रिया के सदृश अर्गल-मुक्त हो गये और अभ्यन्तर के देवता भक्तिमान द्रष्टा की आँखों के सामने प्रतिभात हुए। अब तक विश्व ने गाढ़ यवनिका के अन्तराल में छिपा रहके अपने विस्मयकर रहस्य को गुप्त रक्खा था। क्षण भर में पर्दा हट गया, और गुंठनावृत भगवान, योगी के अबाध नेत्रों के विषयीभूत हो गये। ज्ञाता और ज्ञेय, विषय और विषयी, आत्मा और परमात्मा, पुत्र और पिता इतने दिन प्रकृति के शिलामय प्राचीर के उस पार रहने के कारण विच्छिन्न थे। साधक ने अस्पष्ट रूप में भगवान की धारणा की थी, और वह जानते थे कि दूरस्थ किसी अज्ञात लोक में भगवान का वासस्थान है। अतएव वह अपना आवेदन उस अनिश्चित आनुमानिक लोक को भेजते थे। तत्त्व-ज्ञान-विशिष्ट तथा उपासना-निरत रहते हुए भी भक्त अपने उपास्य से कोटी कोटी योजन की दूरी पर रहते थे, और विश्वास तथा अनुराग रखते हुए भी, उपास्य के दर्शन नहीं पाते थे। उनको विदित था कि इस विश्व के कोई रचयिता हैं, किन्तु विश्व ने ही उनकी दृष्टि का आवरण बनकर उन रचयिता को अदृश्य कर रक्खा था, और इस बाधा के कारण वह उनके सम्मुखीन नहीं हो सकते थे। अपने अज्ञात भगवान के पास अज्ञात देश में समाचार भेजने के लिये साधक को प्राकृतिक वार्तावहों की सहायता लेनी पड़ती थी। भगवान इस विश्व में ही हैं, यह जानकर उनका क्या लाभ था? मनुष्य पृथिवी की धूल में लुंठित है, और भगवान असीमता के अन्तराल में छिपे हैं। क्या इस भयंकर व्यवधान का अतिक्रम कर उनके साथ मिलना संम्भव था? इस जड़ जगत् ने और असंख्य प्राकृतिक शक्तियों ने भक्त और भगवान का मिलना असम्भव कर रक्खा था।

किन्तु अब योग-नेत्र खुल जाने पर योगी यावतीय बाधाओं को क्षणमात्र में अपसारित कर अप्रतिहत गति से भगवान की ओर अग्रसर हो सकते हैं। जिस देवता को वह केवल अप्रत्यक्ष रूप में जान सके थे, उन्हें अब वह प्रत्यक्ष रूप में देखने को समर्थ हुए हैं—दूर के ईश्वर सम्मुख में उपस्थित हुए हैं—उभय का अशरीरी संयोग हुआ है। उपासक ने पहले सामीप्य, पीछे सालोक्य, और अन्त में सायुज्य प्राप्त किया है। निरन्तर साहचर्य के हेतु संयोग दृढ़ीभूत हो पीछे अच्छेद्य हो गया है। अब योगी जी मानों ऐश्वरिक ज्योति के भीतर अवस्थित हैं। सब वस्तुओं के भीतर होकर वह भगवान के सन्निधान में उपस्थित हो सकते हैं, इस कारण उनका पथ सुगम हो गया है। सूर्य के भीतर होकर, चन्द्रमा के भीतर होकर भक्त तथा भगवान परस्पर के निकट गमनागमन करते हैं। मध्यवर्ती बाधा भग्न होने के कारण यातायात के असंख्य पथ उन्मुक्त हुए हैं, और उभय की गति अप्रतिहत हो गयी है। योगी दक्षिण तथा वाम में, पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण में, अनन्त दिक्-देश में प्रत्येक वस्तु, शक्ति तथा प्राकृतिक नियम की राह अपने सर्व-व्यापी राजा के साथ मिलित होते हैं, और उनके साथ एकत्व पा रहे हैं। वाष्प-शक्ति तथा तड़ित-शक्ति, आलोक-शक्ति तथा उत्ताप-शक्ति उनके ईश्वर को व्यक्त कर रही हैं। मध्याकर्षण-शक्ति उनके दर्शन की एक वीथिका बन रही है। वैज्ञानिक प्रयोग-शाला तथा ज्योतिर्विद् का मान-मन्दिर, कौतुकागार तथा शव-व्यवच्छेद-कक्ष भगवान की आभा विस्तार कर रहे हैं। अनुवीक्षण तथा दूरवीक्षण नये नये भुवनों का आविष्कार कर रहे हैं। विज्ञान के प्रत्येक विभाग के भीतर योगारूढ़ अनुसन्धित्सु बिना जाने उस परम देवता का अव्यवहित सान्निध्य प्राप्त कर रहे हैं, जिनकी वह विश्व के स्रष्टा के नाम से पूजा तथा भक्ति करते हैं। यह विश्व ही वह

पवित्र से पवित्र अनन्याधिगम्य तीर्थ है, जहाँ वह अपने निसर्गज, परमार्थ-विद्या-कथित, सर्वस्थ, सर्वक्रिय भगवान के ध्यान में नियुक्त हैं। अपने अध्ययन में, चिन्ता में, दर्शन में तथा आराधना में वह विज्ञान के ईश्वर की उपस्थिति अनुभव करते हैं—उन ईश्वर को, जिनके साथ उनने ऐसी अशरीरी एकता प्राप्त की है और जिसका बन्धन छिन्न होनेवाला नहीं। "भगवान अज्ञात, वा दूरस्थ वा सुप्त हैं" यह असत्य कथन उनके मन से सम्पूर्ण रूप में तिरोहित हो गया है, और विज्ञान का जाज्वल्यमान ईश्वर इस विश्व में विद्यमान हैं—यही वह सर्वदा अनुभव करते रहते हैं। विज्ञान का यथार्थ उपासक चाहे गणित में, चाहे ज्योतिर्विद्या में, चाहे अन्तरिक्ष-विद्या में, चाहे भूगर्भ-विद्या में, चाहे रसायन-विद्या में, चाहे शारीर-विद्या में, चाहे आयुर्वेद में, चाहे कृषि-विद्या में, चाहे पूर्त-विद्या में, चाहे नौ-विद्या में, चाहे श्रम-शिल्प में सर्वत्र एक ही देवता को देख पाते हैं, और उनके साथ संयोग-लाभ करते हैं।

(४)

वैदिक युग के अन्त में जो शास्त्र आलोचित हुआ था, उसका नाम है वेदान्त। वेदान्त-युग में ब्रह्म (परमात्मा) तथा सृष्टि के सम्बन्ध में विशेष आलोचना हुई थी। उसका फल-स्वरूप अनेक दार्शनिक सम्प्रदाओं का जन्म एक ही साथ हुआ था। देखा जाता है कि वैदिक काल के परवर्ती काल में आर्य-चिन्ता-धारा बाह्य-जगत् से निवृत्त होके अन्तर्जगत् में निबद्ध हुई थी। इस काल में प्रकृति का पर्यवेक्षण बन्द होते हुए अन्तर्जगत् का पर्यवेक्षण आरम्भ हुआ था। अब आर्य-भाव-धारा बाल्य अतिक्रम कर यौवन में प्रविष्ट हुई है। वैदिक युग के लक्षण हम कियत् परिमाण में अवगत हुए हैं—हमने जाना है कि उस काल का योग प्रत्यक्ष वा वस्तु-मूलक था।

अब योग ने प्रयत्न को छोड़के अप्रत्यक्ष की पर्यालोचना में आत्म-नियोग किया है—विषय छोड़के विषयी के प्रति मन आकृष्ट हुआ है। आर्य ऋषियों का उच्छ्वास तथा कल्पना प्रशमित हुई हैं। वे धीर-मस्तिष्क तथा विचार-प्रवण हुए हैं। उनकी स्वतः-सञ्जात ईश्वरानुभूति अब विचार-जनित ईश्वरानुभूति में परिणत हुई है। इन्द्रिय-समूह से जो सब उपकरण प्राप्त हो सकते हैं, उन्हें उन्होंने संग्रह कर लिया है। अब चिन्ता करने का तथा सब तत्त्वों का विचार करने का समय आ गया है। अब अपने विश्वास का कारण दिखलाना पड़ता है—भगवत्-तत्त्व का विश्लेषण करना पड़ता है। अतएव देखा जाता है कि इस काल में उपनिषद् नामक ईश्वर-तथा सृष्टि-तत्त्व-विषयक ग्रन्थ-समूह रचित हुए थे। उनका नाम दिया गया था वेदान्त-शास्त्र। वेद के मन्त्र-भाग में जो सब बातें उक्त हुई हैं, उनका युक्तिपूर्ण तात्पर्य वेदान्त में व्याख्यात हुआ है। अतएव उपनिषदादि ग्रन्थ-निचय को वेद का दार्शनिक तत्त्व कहा जा सकता है।

ऋषिगण अब प्राकृत विषय-समूह का स्तुति-गान नहीं करते। वे अब गहन चिन्ता में निमग्न हैं, और ध्यान-स्तिमित-लोचन होकर भगवान के संग-लाभ के निमित्त लालायित हैं। वैदिक कवि प्रकृति को लेकर व्यस्त थे, और जानते थे कि प्रकृति के पथ से भगवान की प्राप्ति होती है। किन्तु वैदान्तिक ज्ञानी ने समझा कि यदि अज्ञात देवता का दर्शन-लाभ करना हो, तो इन्द्रियग्राह्य बाह्य विषयों को छोड़ अतीन्द्रियता की शरणी अवलम्बन करनी होगी। जिस योग-साधना में यह पथ अवलम्बन किया जाता है, वही सर्वोच्च योग-मार्ग है, कारण इसमें बाह्य वस्तुओं का कोई संस्रव नहीं। इसमें अशरीरी के साथ अशरीरी का—जीवात्मा के साथ परमात्मा का—मिलन है। वैदिक उपासना में समय समय पर जैसे एक श्रेणी के अम-

प्रमाद दृष्ट होते हैं, वैदान्तिक योग-मार्ग में भी अन्य एक श्रेणी के भ्रम-प्रमाद लक्षित होते हैं। वैदिक ऋषिगण प्रकृति पर अत्यधिक ध्यान देने के कारण कभी कभी प्रकृति-पूजा-रूप भ्रम में पतित होते थे। दूसरी ओर वैदान्तिक काल के योगीगण अधिक अतीन्द्रियता-प्रवण होने के कारण विश्व-देव-वाद के आवर्त में फँसे हैं।

जो जो इस उन्नत-तर योग-साधना में प्रवृत्त होते हैं, वे पार्थिव कोलाहल, प्रलोभन तथा भय से अपसृत होकर निर्जनता तथा नीरवता का आश्रय ग्रहण करते हैं। जिससे उनका चित्त संपूर्ण रूप में परमात्मा पर अर्पित हो सके, इसलिए वे इन्द्रिय-ग्राह्य तथा सांसारिक चिन्ता से निवृत्त होने की चेष्टा करते हैं। बहु सतर्कता तथा बहु आयास के द्वारा चिन्ता तथा वासना को संयत कर योगी अपने आपको वश में लाने को समर्थ होते हैं। वह समझ गये हैं कि वासना ही उनका प्रबल शत्रु है, और "अहम्"-भाव ही ईश्वर से उनका विच्छिन्न होने का प्रधान कारण है। प्रत्येक अनुचित इच्छा एकाग्रता का बाधक है, और अहं-ज्ञान चित्त-विक्षोभ का जनक है। "मैं"-त्व अप्रतिहत शत्रु बनके संयोग का विघ्न उत्पन्न करता है। सुतरां योगी "मैं" का संपूर्णतया ध्वंस करना चाहते हैं। प्रत्यक्ष-मूलक योग में स्थूल वस्तु-समूह योग के प्रधान अन्तराय हैं, किन्तु जिस मुहूर्त में वे निराकृत होती हैं, उसी मुहूर्त में आत्मा और परमात्मा का एकीकरण हो जाता है। निरपेक्ष योग में अहं-ज्ञान ही प्रधान विघ्न है, और आत्मा को परमात्मा से भिन्न कर रखता है। इस विघ्न का उच्छेद करना होगा—'अहं' का त्याग करना होगा। आत्म-बलिदान केवल कामना-त्याग वा इन्द्रिय-निग्रह वा पार्थिव-सुख-वर्जन वा उच्च अंग के दारिद्र्य-वरण वा कृच्छ्रसाधन के द्वारा सम्पन्न नहीं होता। उसके निमित्त अधिकतर त्याग आवश्यक

है—'अहं' का बलि-दान करना होगा। 'अहं' के सम्पूर्ण विलोप के द्वारा ही वह विघ्न उत्पाटित होगा। योगी के निकट 'अहं' अति हेय वस्तु है। केवल शाखाच्छेदन के द्वारा इस वृक्ष का नाश होना सम्भव नहीं—इसके मूल पर कुठाराघात करना होगा। काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मात्सर्य तथा सांसारिकता का तो त्याग करना ही होगा, कारण ये साधना के पथ पर अन्तराय हैं, और साधक को परमात्मा से दूर हटा देते हैं। इस के अतिरिक्त, इनका जो मूल है—'अहं'-ज्ञान—उसे उत्पाटित करना होगा। निष्कलुषता, इन्द्रिय-विजय, निरहंकार तथा निःसांसारिकता ही आध्यात्मिकता के चरम आदर्श नहीं। साधक का उद्देश्य केवल संसार-त्याग नहीं—उनका लक्ष्य और भी उच्च है—वह स्वर्ग में प्रविष्ट हो, वहाँ स्थायी आसन अधिकार करना चाहते हैं। "मैं" को सम्पूर्ण रूप में भगवान में निमज्जित करने के अतिरिक्त वह अन्य किसी प्रकार की मुक्ति की आकांक्षा नहीं करते। अविराम ध्यान के द्वारा वह यह संयोग प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। वह ऐसे सर्वांगीन रूप में परमात्मा के असीम सत्ता में अपनी ससीम सत्ता को निमज्जित कर देना चाहते हैं कि उनकी निज सत्ता का चिह्नमात्र न रहे। तब उनको उपलब्ध होता है कि उनकी निजी कोई शक्ति नहीं है—अपनी जो थोड़ी सी शक्ति रहने का ख्याल वह करते हैं, वह भगवान से प्राप्त है—वह जो कर्म करते हैं, वह भगवान के द्वारा नियोजित होकर करते हैं, वह अपने ज्ञान की जो श्लाघा करते हैं, वह भगवान के असीम ज्ञान का कणमात्र है, और उनका जो आनन्दानुभव है, वह आनन्दसागर की एक ऊर्मिमात्र है।

ध्यान की अवस्था में भिन्न भिन्न समय पर योगी की आत्मा भगवान के भीतर ही अवस्थित रहती है—तब भी योग से उनका वि-योग नहीं होता। गृहस्थाश्रम में भी ऐसे योगी का रहना

असम्भव नहीं। संसार-चक्र के निष्पेषण से भी वह चूर्णित तथा अपवित्र नहीं होते, और अपने अन्तर की शान्ति नहीं गँवाते। वह सदानन्द हैं, सर्व-भूत में समदर्शी हैं, तथा मृत्यु-भय-शून्य हैं।*

---

* ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन के एक अंगरेज़ी लेख के आधार पर।